श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

ŚRĪRĀMAKĪRTIMAHĀKĀVYAM

(हिन्दी पद्यानुवाद सहित)



सत्यव्रतशास्त्री

यह कथन सर्वथा सत्य है कि यदि एशिया की अपनी कहने को कोई एक कथा है तो वह राम कथा ही है। इस महाद्वीप के हर देश ने इसमें अपना योगदान दिया है। थाईलैण्ड में यह रामकियन (संस्कृत रूप-रामकीर्ति) के रूप में पाई जाती है। यद्यपि आधारभूत कथा सभी एशियाई देशों में एक सी ही है तो भी थाई रामकथा अन्य देशों की रामकथा से पर्याप्त भिन्न है। इसके अनेकानेक आख्यान और उपाख्यान अन्यत्र उपलब्ध न होने के कारण इसकी अपनी विशेषता हैं। प्रस्तुत महाकाव्य थाई देश में उपलब्ध रामकथा को वर्णित करता है।

कथानक इसमें वह तन्तु भर है जिसके सहारे कथ्य आगे बढ़ता जाता है। अन्यथा यह एक काव्य है—एक मधुर और आकर्षक काव्य।

इसमें पाये जाने वाले विविध आख्यानों-उपाख्यानों को कवि ने गहराई एवं मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। अलंकारों का भरपूर प्रयोग, विविध रसों की प्रस्तुति तथा चुस्त संवाद काव्य रसिकों को इसका रसास्वाद कराने में पूर्णरूपेण सक्षम हैं।

इस महाकाव्य ने थाई देश की रामकथा को विश्वभर के संस्कृत प्रेमियों को सुलभ करा दिया है। किञ्च, इसके द्वारा वह उस संस्कृत वाङ्मय परम्परा का अंग बन गई है जिसका सहस्रों वर्षों का अक्षुण्ण इतिहास है।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् भारत के बाहर की रामकथा पर लिखा जाने वाला पहिला महाकाव्य है। अब तक चार भषाओं—दो विदेशी (अंग्रेज़ी और थाई) और दो भारतीय (कन्नड़ और असमिया) में इसका अनुवाद हो चुका था। हिन्दी अनुवाद इसका इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है। विदुषी अनुवादिका, जो स्वयं में एक रससिद्ध कवयित्री हैं, ने मूल के भाव को अक्षुण्ण रखते हुए सरल एवं सरस पद्यों में उसका रूपान्तर प्रस्तुत किया है। मूल और अनुवाद आमने-सामने होने से सुधी पाठक दोनों का आनन्द एक साथ ले सकते हैं।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

(हिन्दी पद्यानुवाद सहित)

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

(थाइ रामकथा पर आधारित अभिनव संस्कृत महाकाव्य)

प्रणेता

सत्यव्रत शास्त्री

भूतपूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
तथा कुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी, उड़ीसा

प्राक्कथनलेखिका

देवरत्नराजसुता महाचक्री

सिरिन्थौर्न

थाइदेशमहाराजकुमारी

हिन्दी अनुवादिका

डा० मिथिलेश कुमारी मिश्र

अनुसंधान-विभाग, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
पटना



ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: भारत

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली - ११०००७

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित

मूल्य रु० ९५/-

ISBN : 81-86339-74-4

1998

मुद्रक :
यूनीक प्रिंट मीडिया,
विजय नगर दिल्ली-९

मूल लेखक की ओर से

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् का प्रथम प्रकाशन १९९० में हुआ था। तब से लेकर अब तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

विद्वत्समाज में यह सुतरां समादृत हुआ। इसे मैं प्रभु राम की कृपा ही मानता हूं। इस पर अब तक दिल्ली संस्कृत अकादमी का पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत पद्यरचना पुरस्कार, राजस्थान संस्कृत अकादमी का प्रथम अखिल भारतीय पुरस्कार, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान का अखिल भारतीय कालिदास पुरस्कार, मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी का अखिल भारतीय कालिदास पुरस्कार, के. के. बिड़ला फाउण्डेशन का वाचस्पति पुरस्कार, मोदी कला भारती का दयावती मोदी विश्व संस्कृति सम्मान आदि नौ पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। चार भाषाओं—अंग्रेज़ी, थाई, कन्नड़ और असमियां में इसका अनुवाद भी हो चुका है। हिन्दी में अनुवाद और वह भी पद्यानुवाद इस कृति के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

रामकथा किसी भी देश की क्यों न हो, रामकथा ही है। इसी के ही विविध आयाम सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। थाईदेश में यह रामकियन है, लाओस में यह फ लक् फ लाम है, कम्पूछिया में यह रामकेर है, मलयेशिया में यह हिकायत सरि राम है, हिन्देशिया में यह रामायण ककाविन है। अनन्त रूप हैं इसके—हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।

उन्हीं अनन्त रूपों में से एक रूप, थाई रूप, का चित्रण करने का प्रयास मैंने किया। अमरकथा का माध्यम भी अमर ही होना चाहिए। इसीलिए मैंने अमरवाणी को ही तदर्थ अपनाया। अमरवाणी में गाई गई वह कथा अन्यान्य भाषा-भाषियों के मन को भी कहीं गहरे तक छू गई और उन्होंने अपनी अपनी भाषा में इसे प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। किसी को भी भौतिक लाभ की कोई इच्छा नहीं थी। प्रभु-चरित के गान का अवसर ही उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किये जा रहा था।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् का प्रत्येक अनुवादक स्वयं में एक विख्यात साहित्यकार है। मूल लेखक के समानधर्मा होने के कारण वह उसके सूक्ष्म भावों को पकड़ सका है और अपनी-अपनी भाषा में उसे प्रस्तुत कर सका है। इसने उसके अनुवाद को एक विशेष स्वरूप दे दिया है। उल्लेखनीय बात यह है कि श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् केवल एक कथानक ही नहीं है, वह एक काव्य है जिसमें भावों का सूक्ष्म चित्रण है, जिसमें कल्पना और यथार्थ एकाकार हो गये हैं।

डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्रा स्वयं में हिन्दी तथा संस्कृत की एक रससिद्ध कवयित्री हैं। उनका अनुवाद मूल का सही प्रतिबिम्बन है। पच्चीस सर्गों का अनुवाद एक भगीरथ कार्य था जो उन्होंने अन्त:प्रेरणा से कर डाला। उन्होंने मेरी कृति लाखों-करोड़ों हिन्दी प्रेमियों को भी सुलभ करा दी। इसके लिए उन्हें कोटिश: आशीर्वाद।

—सत्यव्रत शास्त्री

अनुवादिका की ओर से

कतिपय वर्ष पूर्व एक बार डॉ० सत्यव्रत शास्त्री का किसी कार्यवश पटना आना हुआ। तब उनकी काव्य-कृति श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् प्रकाशित हुई ही थी। उन्होंने उसकी एक प्रति मुझे दी। मैं उसे आद्योपान्त पढ़ गई। उसके माध्यम से मुझे थाई रामकथा का परिचय मिला। अपने यहां की रामकथा से बहुत कुछ अलग ही उसका रूप है जो मुझे बहुत रुचिकर लगा। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की काव्य शैली ने भी मुझे मुग्ध किया। मेरे मन में विचार जगा कि क्यों न इस अमर कृति को हिन्दी में भी प्रस्तुत कर लाखों-करोड़ों हिन्दी प्रेमियों को इसे सुलभ करा दिया जाय। इसी प्रेरणा से मैं इसके हिन्दी अनुवाद कार्य में जुट गई। संस्कृत पद्यों का अनुवाद भी पद्यों में ही यदि हो तो और अच्छा हो, यह सोच मैंने पद्यानुवाद का ही मार्ग अपनाया।

अनुवाद सुधी पाठकों के समक्ष है। यदि इसके माध्यम से थाई रामकथा की जानकारी यह उन्हें प्रदान कर पाता है और मूल का रसास्वाद करा पाता है तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूंगी।

—मिथिलेशकुमारी मिश्र

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

ŚRĪRĀMAKĪRTIMAHĀKĀVYAM

हिन्दी पद्यानुवाद सहित)

प्रथमः सर्गः

(उपोद्घातः)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे
द्वीपे विशालेऽतिविशालकीर्तिः ।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो
देशोऽतिरम्यो भुवि थाइलैण्डः ।।1।।

श्यामेतिनामातिपुराणमस्य
ख्यातं पुराणादिषु यद्विहाय ।
थाईतिजात्यध्युषितत्वहेतो-
र्यं थाइलैण्डं कथयन्ति लोकाः ।।2।।

राजा प्रजारञ्जनमादधानः
सर्वात्मना बुद्धवचःप्रमाणः ।
अतुल्यतेजःपदवीं दधानः
प्रशास्ति यं भूमिबलाभिधानः ।।3।।

अकृष्टपच्यं खलु यत्र सस्यं
रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः ।
मन्दं प्रवान्तश्च यदीयवाता
आगन्तुकानां रमयन्ति चेतः ।।4।।

प्रथम सर्ग

(उपोद्घात)

विख्यात सुविस्तृत महाद्वीप एशिया मध्य
अतिशय विशाल पावन यश मण्डित शुभ्रवेष।
आग्नेय दिशा मण्डल में व्यापक मौलि रूप
वसुधा तल का अभिराम रम्य वह थाइदेश ॥ १ ॥

पुराणों में जिसे कहा गया था श्याम देश
त्याग पुराणों में वर्णित वह विख्यात नाम।
थे वहाँ निवासी थाइ जाति के, इस कारण
लोगों ने उसका थाइलैण्ड रख दिया नाम ॥ २ ॥

शासन करते हैं वहाँ भूमिबल अतुलतेज
जो महायशस्वी तेजस्वी लोकाभिराम।
वे प्रजानुरंजन का करते हैं व्रत धारण
सर्वात्मभाव से बुद्ध वचन जिनका प्रमाण ॥ ३ ॥

स्वयमेव जहाँ उपजा करतीं फसलें अतिशय
जिसकी धरती भी हरित घास से दिखे रम्य।
शीतल सुगन्ध मन्दानिल भी पर्यटकों का
मन हर लेता है जिससे वे हो रहे धन्य ॥ ४ ॥

देशस्य तस्यास्ति भृशं विशाला
कण्ठे भुवः शुभ्रतरेव माला।
ऐश्वर्यसौन्दर्यविलासधानी
बैंकाकनाम्नी खलु राजधानी ।।5।।[1]

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

बैंकाकेति समाख्यास्या यद्यपि प्रथिता पुरः।
तथाऽपि थाइदेशीया नैनयैतां प्रचक्षते ।।6।।

क्रुङ्थेवेत्यन्यदेवास्ति नाम तेषु प्रथां गतम्।
प्रयुञ्जते तदेवैते न बैंकाकेति जातुचित् ।।7।।

क्रुङ्शब्दः थाइमूलोऽस्ति थेवः संस्कृतमूलकः।
क्रुङ्शब्दार्थः स्थानमिति थेवो देवार्थको मतः ।।8।।

अपभ्रंशः थेवशब्दो देवस्यैवेत्यसंशयम्।
गैर्वाण्या देवशब्दोऽत्र थेवरूपेण गद्यते ।।9।।

देवस्थानं भवेदर्थः क्रुङ्थेवस्येति निश्चितम्।
नात्र कश्चिद्विसंवादो विदुषां परिलक्ष्यते ।।10।।

अतीता किञ्चिदधिका हायनानां शतद्वयी।
पुरस्यास्य निविष्टस्य सुतरामृद्धिशालिनः ।।11।।

चक्रिवंश्या भूमिपालाः थाइदेशं प्रशासति।
तन्मूलपुरुषः कश्चित्पुरमेतन्न्यवेशयत् ।।12।।

1. काव्यस्यास्य प्रथमपञ्चपद्यानि काव्यकर्तुरपरस्मात्काव्यात् थाइदेशविलासात्समुद्धृतानि।

उस थाइलैण्ड की अतिविशाल महिमा मण्डित
मानो वसुधा के कण्ठ पड़ी हो शुभ्रमाल ।
लावण्य ललाम विलासवती ऐश्वर्यमयी
बैंकाक नाम से ख्यात राजधानी विशाल ॥ ५ ॥

बैंकाक नाम जग में प्रसिद्ध, जानते सभी हैं यही नाम ।
पर, थाइदेशवासी इसका, रख बैठे कोई और नाम ॥ ६ ॥

इसको कहते क्रुङ्थेव सभी, जानते थाइ जन यही नाम ।
मान्यता यही उन लोगों की, मानते न वे बैंकाक नाम ॥ ७ ॥

क्रुङ् शब्द थाइ का मूल शब्द, है थेव संस्कृत मूलक पद ।
स्थान ध्वनित होता क्रुङ् से और थेव देव का सूचक पद ॥ ८ ॥

निःसंशय, थेव शब्द भी तो अपभ्रंश देव पद का दिखता ।
संस्कृत शब्द वह देव यहाँ बन गया थेव ऐसा लगता ॥ ९ ॥

इसमें सन्देह नहीं किञ्चित् क्रुङ्थेव देव स्थल वाचक ।
है देवलोक ही थाइदेश बुध जन का विमत नहीं बाधक ॥ १० ॥

दो सौ वर्षों से भी किञ्चित् पूर्व यह पुरी बसायी गयी दिव्य ।
यह नगरी अधिकाधिक समृद्ध और वैभव से परिपूर्ण भव्य ॥ ११ ॥

करते हैं थाइदेश पर शासन भूपाल चक्रिकुल के महान् ।
जिसने बनवायी नगरी यह वह मूल पुरुष कुल-गण्यमान ॥ १२ ॥

बुद्ध योद् फेति नामाऽऽसीत्तस्य विद्वन्महामणेः ।
रामगाथां स्ववाचा यो जगौ कविधुरन्धरः ।। 13 ।।

रामकीर्तिरितिख्यातं तत्काव्यमतिविस्तृतम् ।
नानासहस्रसङ्ख्याकैर्निबद्धं हृदयङ्गमैः ।। 14 ।।

पद्यरूपै[1] रामगाथामवान्तरकथाशतैः ।
जोषयत्सुतरां रुच्यैरधिलोकं विराजते ।। 15 ।।

न दृष्टं वा श्रुतं वाऽपि काव्यं तादृङ् मनोहरम् ।
रामगाथागानपरमित्यत्रत्याः प्रचक्षते ।। 16 ।।

पाठं पाठं च तत्काव्यं पायं पायं च तद्रसम् ।
काव्यामृतरसज्ञानां नैव तृप्तिः प्रजायते ।। 17 ।।

बुद्ध नाइ लर्त् लेत्याख्यस्तत्परो नृपतिर्वरः ।
प्रास्तौषीन्नाट्यरूपेण रामगाथां मनोहराम् ।। 18 ।।

अशिश्रियत्स संक्षेपं रामगाथानिरूपणे ।
अतो नाट्यप्रयोगार्थमुपयुक्ताऽस्ति तत्कृतिः ।। 19 ।।

तद्वर्णितां रामगाथां कौशलेन प्रयुञ्जते ।
तदुच्चारणयोगेन सम्प्रत्यपि कुशीलवाः ।। 20 ।।

वसाना आढ्यवर्णानि वासांसि रुचिराणि ते ।
छद्ममुखा[2] वृतमुखा रञ्जयन्ति नृणां मनः ।। 21 ।।

अभिनेयं तथा वस्तु कुशलाः प्रस्तुवन्ति ते ।
येन गूढोऽपि तद्भावः स्फुटो भवति तत्क्षणात् ।। 22 ।।

1. प्रशस्तैः पद्यैरित्यर्थः । प्रशंसायां रूपप् (5. 3. 66) । 2. मास्क इत्याङ्गल्यां वाचि ।

वह बुद्धिमान, कवि, पुरुषरत्न था बुद्धयोद् फा उसका सुनाम ।
अपनी भाषा में उस नृप ने गायी थी रामकथाभिराम ॥ १३ ॥

उसके विस्तृत उस महाकाव्य का रामकीर्ति विख्यात नाम ।
वह काव्य सहस्रों हृदयङ्गम पद्यों में रचित श्रवणाभिराम ॥ १४ ॥

उस रामकथा के अन्तर्गत नाना अवान्तर कथा रचित ।
है व्याप्त जगत में जिनका प्रकाश वह अब भी रुचिर व काव्योचित ॥१५ ॥

इस जैसा काव्य मनोरम जो, देखने न सुनने में आया ।
जन-जन कहते यह गान, राम की कथा में ही है गया गाया ॥ १६ ॥

पढ़-पढ़ कर बारंबार काव्य पी-पीकर उसका अमृत रस ।
काव्यामृतरस प्रेमी न कभी होते सुतृप्त वह अद्भुत रस ॥ १७ ॥

तदनन्तर राजा बुद्ध नाइलर्त् ला रच गये रामकथा ।
नाट्य के रूप में गीतबद्ध सुमनोहर मोहक रामकथा ॥ १८ ॥

संक्षिप्त राम गाथा-आश्रित सुन्दर गीतों में नाट्य रूप ।
था वह प्रयोग उपयुक्त अतः अतिशय उपयोगी वह स्वरूप ॥ १९ ॥

उसका वह रामकथा रूपक अभिनीत हो रहा है सम्प्रति ।
अभिनेता गण गा रहे उसे कौशल दिखलाते उसके प्रति ॥ २० ॥

सुन्दर रंगों में रंगे वस्त्र धारण करते नट विविध भाँति ।
छद्ममुखों (मुखौटों) को मुख पर लगा अनुरंजन करते भाँति भाँति ॥ २१ ॥

अभिनय में पटु वे अभिनेता प्रस्तुत करते हैं कथावस्तु ।
जिससे निगूढ़ भी भाव स्वतः स्फुट होते तत्काल अस्तु ॥ २२ ॥

प्रस्तुतौ रामगाथाया नाट्यरूपेण सा कृतिः ।
अधुनाऽपि नृपालस्य बहुधाऽस्योपयुज्यते ।। 23 ।।

मङ्कुटाख्यस्ततपरोऽभून्मान्यो भूपालसत्तमः ।
स्वबुद्ध्या रामगाथां यो व्याख्यत् ख्यातो मनीषिषु ।। 24 ।।

रामगाथाविषयिणी बह्वी तेन गवेषणा ।
कृता येन कृतिस्तस्य सुतरां ज्ञानवर्धिनी ।। 25 ।।

अनेकान् विषयान् गूढान् सम्बद्धान् रामगाथया ।
निपुणं स समालोच्य विशदं प्रत्यपीपदत् ।। 26 ।।

थाइदेश्यास्ततः पूर्वं नैवाजानन् मनागपि ।
रामायणस्य कर्ताऽऽसीद् वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ।। 27 ।।

थाइदेश्या रामगाथाऽभूदत्रास्याः समुद्भवः ।
नृपतेर्मङ्कुटात्पूर्वमित्येवं मेनिरे जनाः ।। 28 ।।

स एव नृपतिः कृत्या स्वया तान् प्रत्यबूबुधत् ।
यदस्या दिव्यगाथाया भारतेऽभूत्समुद्भवः ।। 29 ।।

साम्प्रतं शिक्षिता लोका इदं जानन्त्यसंशयम् ।
अशिक्षिताः पुनर्नैवं बुध्यन्ते स्वमते स्थिताः ।। 30 ।।

जनी रामस्य सीतायाश्चात्रैवाजन्यसंशयम् ।
रामरावणयोर्युद्धमत्रैव समजायत ।। 31 ।।

अयोध्या नाम नगरी देशेऽत्राद्यापि राजते ।
सञ्जीवनी यतो नीता सोऽद्रिरत्रैव दृश्यते ।। 32 ।।

राम-कथा का नाट्य रूप नट के द्वारा प्रस्तुत होता ।
अब भी नरेश की उस कृति का बहुधा उपयोग वहाँ होता ॥ २३ ॥

उनके पश्चात् हुए मङ्कुट भूपालशिरोमणि कहलाए।
विख्यात ज्ञानियों में, वे भी निजमति से रामकथा गाये ॥ २४ ॥

रामकथा से संबंधित जिसने अन्वेषण किया अधिक् ।
जो रचना रची गयी उनसे वह ज्ञानवर्धिनी आज अधिक ॥ २५ ॥

सम्बद्ध रामगाथा से जो अति गूढ़ विषय भी थे अनेक ।
उनकी समीक्षा करके फिर थी की व्याख्या भी अति सटीक ॥ २६ ॥

ऋषि वाल्मीकि मुनिवर ही थे रामायण कर्ता, यही सत्य ।
इसके पहले कि थाइजन जानते रहे कुछ भी न तथ्य ॥ २७ ॥

राजा मङ्कुट के पूर्व लोग वस्तुतः जानते रहे यही ।
कि थाइदेश में रामकथा उत्पन्न हुई थी स्वतः यहीं ॥ २८ ॥

उस नरपति की रचना ने ही, उन लोगों को उद्बुद्ध किया ।
कारण कि दिव्य कथा ने तो, भारत में ही जन्म लिया ॥ २९ ॥

इस समय सुशिक्षित लोकवर्ग जानता इसे सन्देह नहीं ।
निज मत पर अड़े अशिक्षित जन फिर भी इसको मानते नहीं ॥ ३० ॥

मानते यही कि सीय-राम जन्मे निःसंशय सभी यहीं ।
वह युद्ध राम-रावण का भी, उनके मत से था हुआ यहीं ॥ ३१ ॥

वह पुरी अयोध्या भी अथवा आज भी सुशोभित यहीं कहीं ।
जिस गिरि पर संजीवनी मिली वह तो दिखलाई पड़े यहीं ॥ ३२ ॥

लवस्य रामपुत्रस्य नाम स्वात्मनि बिभ्रती ।
पुरी लोपबुरी चापि देशेऽत्रैव विराजते ।। 33 ।।

शरेण राममुक्तेन सञ्जाता हरिता शिला ।
मध्येपुरि स्थिता यत्र रामं स्मारयतेऽनिशम् ।। 34 ।।

इत्येवं प्राकृता लोका गतानुगतिका इह ।
रामगाथां दृढं थाइदेशीयामेव मन्वते ।। 35 ।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

आत्मीयभावः परिलक्ष्यतेऽत्र
रामायणेऽन्यत्र सुदुर्लभो यः ।
दृश्यानि नाना विविधस्थलेषु
तस्मात्पुरा शिल्पिभिरङ्कितानि ।। 36 ।।

आत्मीयभावेन हृदि स्थितेन
तेनैव नानाऽत्र कथानकानि ।
संयोजितानि प्रथयन्ति किञ्चिद्
रामायणस्यान्यदिव स्वरूपम् ।। 37 ।।

आस्ते पुनर्मूलकथा तथैव
तस्यां न भेदः परिलक्ष्यतेऽत्र ।
भेदः पुनर्भाति नवेषु सत्यं
कथानकेष्वेव न चेतरत्र ।। 38 ।।

स्फुटं भवेत्तावदनेन विज्ञ-
वर्गाय वैशिष्ट्यमिहास्ति यद्वा ।
नवीनमत्रास्ति विचारणीयं
रामायणे रामकथाभिरम्ये ।। 39 ।।

वह राम-पुत्र लव की नगरी, धारण करती निज नाम यहीं ।
वह लोपबुरी लवपुरी सदृश, है इसी देश में आज यहीं ॥ ३३ ॥

राम-बाण के द्वारा ही, जो शिला हरित हो गयी कभी ।
नगरी-मध्यस्थिता वह, कराती राम-स्मरण अभी ॥ ३४ ॥

इस भाँति रुढ़िवादी प्राय: जो प्राकृत जन हैं बसे यहाँ ।
मानते यही वे रामकथा, जो थाइदेश में रही यहाँ ॥३५ ॥

आत्मीय भाव रामायण के प्रति परिलक्षित
जो यहाँ सहज, अन्यत्र सुदुर्लभ दिखता वह ।
प्राचीन काल से नाना दृश्यों का अंकन
है जगह-जगह पर शिल्पकार के द्वारा वह ॥ ३६ ॥

आत्मीयभाव जो हृदय-मध्य स्थित उनके
उससे ही विविध कथा संयोजित दिखी यहाँ ।
उनका स्वरूप रामायण से कुछ भिन्न, किन्तु
वे सभी कथानक प्रचलित दिखते आज यहाँ ॥ ३७ ॥

फिर भी वह मूल कथा जैसी की तैसी है
अन्तर उसमें न तनिक दिखलायी पड़ा यहाँ ।
केवल कुछ भेद वस्तुत: नयी कथाओं में
दिखता है, पर अन्यत्र न अन्तर कहीं यहाँ ॥ ३८ ॥

इससे स्पष्ट यही ज्ञानीजन के हितार्थ
है जो विचित्रता या नवीनता कथा मध्य ।
वह भी विचार के योग्य क्योंकि रामायण में
है रामकथा अत्याकर्षक अथवा सुरम्य ॥ ३९ ॥

द्वितीयः सर्गः

(अनोमतन्नुपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

अनोमतन्निति ख्यातो माननीयतमो नृणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ।।1।।
थाइरामायणे तावदित्थं तस्य समुद्भवः ।
वर्णितोऽस्ति नृपालस्य स्वयं जातस्य धीमतः ।।2।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

हिरन्तयक्षेति बभूव कश्चि-
न्मायाविनामग्रसरोऽसुरेन्द्रः ।
देवेषु यो विप्रचकार[1] शैले
वसन् विशाले किल चक्रवाले ।।3।।

तत्पीडिता देवगणा उपाय-
न्नुपायमन्यं न हि वीक्षमाणाः ।
देवाधिदेवं शरणं शरण्यं
कैलासवासं विपदां निरासम् ।।4।।

1. विरुद्धं चेष्टितवानित्यर्थः ।

द्वितीय सर्ग

(अनोमतन्नुपाख्यान)

था माननीयतम अनोमतन
विख्यात हुआ अतिशय भूपति ।
जैसे वेदों में प्रणव आद्य
वैसे ही वह भी आदि नृपति ॥ १ ॥

इस भाँति थाइ रामायण में
उसके उद्भव का वृत्त रचित ।
वह बुद्धिमान् था स्वयं जात
ऐसा रामायण में वर्णित ॥ २ ॥

था हुआ कदाचित् हिरन्तयक्ष नामक दानव
जो मायावी असुरों से बढ़कर असुरराज ।
देवों को पीड़ित करता था वह अनायास
था चक्रवाल गिरि पर विशाल उसका निवास ॥ ३ ॥

उससे पीड़ित देवता ढूँढते थे उपाय
पर उन्हें नहीं कोई उपाय भी दिख पाये ।
देवाधिदेव जो अशरण-शरण विपद् हर्त्ता
कैलासवास जिनका उनकी शरण में वे आये ॥ ४ ॥

एकोऽत्र नारायण एव सत्यं
नाशेऽसुरस्यास्य भवेत्समर्थः ।
इत्थं विचिन्त्य प्रभुरीश्वरो द्राक्
तमेव तावन्मनसा जगाम ।।5।।

उपस्थितोऽभूत्स्मृतमात्र एव
नारायणः पर्वतजाप्रियेण ।
पप्रच्छ चैनं किमु मेऽस्ति कार्यं
स्मार्यत्वकोटिं गमितोऽस्मि येन ।।6।।

तमीश्वरः प्राह हिरन्तयक्ष-
नामासुरः पीडयते सुरौघम् ।
त्रस्तश्च भीतश्च कदर्थितश्च
मामद्य येनायमभिप्रपन्नः ।।7।।

लोके प्रपन्नार्तिहरो मतोऽह-
मतो विपन्नं शरणं प्रपन्नम् ।
देवौघमेनं परिरक्षितुं मे
विष्णो ! द्रढीयान् मनसोऽभिलाषः ।।8।।

एनं भवान् मे मनसोऽभिलाषं
सर्वात्मना पूरयितुं समर्थः ।
अतो भवान् यातु च हन्तु चैनं
दुर्दानवं पातु च देवसङ्घम् ।।9।।

एवं प्रयुक्तः परमेश्वरेण
नारायणो लोकपरायणोऽसौ ।
सम्प्रस्थितोऽद्रिं प्रति चक्रवाल-
नाम्ना प्रसिद्धं तमुपागमच्च ।।10।।

सत्यतः जगत् में एकमात्र नारायण ही
दिखते समर्थ असुरों का जो कर सकें विनाश ।
इस भाँति सोचकर शिव जी ने तत्काल वहीं
उन नारायण का अपने मन से किया ध्यान ॥ ५ ॥

स्मरण भाव से पार्वती-पति के द्वारा
हो गये उपस्थित नारायण भी शीघ्र वहाँ ।
पूछा शिव से—'क्या कार्य आ पड़ा अकस्मात्
जिस हेतु है मुझे याद कर लिया यहाँ ॥ ६ ॥

यह सुनकर शिव जी नारायण से यों बोले—
'उस असुर हिरन्तयक्ष से पीड़ित देव सकल ।
आ गये शरण मेरी वे इस समय अधिक
दिख रहे त्रस्त, भयभीत, कदर्थित अति व्याकुल ॥ ७ ॥

संसार जानता मैं शरणागत का रक्षक
विपदा को हरने वाला मैं ही एकमात्र ।
हे विष्णु ! देवगण की रक्षा मेरे मन की
इस समय सुदृढ़ अभिलाषा, समझो, एकमात्र ॥ ८ ॥

मेरे मन की इस अभिलाषा की पूर्ति-हेतु
सर्वात्मभाव से एक आप ही हैं समर्थ ।
इसलिए, आप जाकर मारें उस दानव को
देवों की रक्षा करें, सिद्ध हों सकल अर्थ ॥ ९ ॥

परमेश्वर से इस भाँति प्राप्त करके निदेश
वे नारायण जो लोक परायण कहे गये ।
चल पड़े परम विख्यात चक्रवालाद्रि हेतु
तदनन्तर थे दानव-समीप वे पहुंच गये ॥ १० ॥

आयोधयामास च तत्र भीमं
स दानवं नाम हिरन्त्तयक्षम् ।
शस्त्रैस्सुतीक्ष्णैरतिपापवृत्तिं
देवार्दकं तं निजघान चापि ।।11।।

निहत्य चैनं समुपाजगाम
क्षीराम्बुधिं नाम निजालयं सः ।
उपागतश्चापि ददर्श तत्र
पद्मे शयानं शिशुमेकमेषः ।।12।।

एनं समादाय स आशु दोर्भ्यां
कैलासशैलं समुपाजगाम ।
सन्दर्शयामास तमीश्वरं च
समर्पयामास मुदा च तस्मै ।।13।।

अनोमतन्नित्यथ नामधेयं
तस्मै ददावीश्वर आशुतोषः ।
राजा भवत्वेष शिशुः शुभाङ्ग
आद्यः पृथिव्या इति चादिदेश ।।14।।

तस्याभवद्राजवरस्य राज-
धानी सुरम्या खलु पुर्ययोध्या ।
महेश्वरादेशवशंवदेन
स्वयं महेन्द्रेण निवेशिता या ।।15।।

था किया भयंकर युद्ध विष्णु ने वहाँ विकट
उस असुर हिरन्तयक्ष नाम के साथ स्वयं।
अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्रों से सुर वैरी, पापी
उस दानव का वध किया विष्णु ने वहाँ स्वयं॥ ११॥

दानव का वध कर नारायण आ गये शीघ्र
क्षीराम्बुधि नामक, ज़ो उनका अपना निवास।
आकर के देखा वहाँ एक शिशु अकस्मात्
सोया था जो कमलासन पर शशि के समान॥ १२॥

शीघ्र ही उठाकर शिशु को अपनी बाहों में
कैलास शैल पर नारायण पहुंच गये
परमेश्वर को दिखलाया वह बालक सहर्ष
और फिर समर्पित उन्हें ही कर गये॥ १३॥

फिर आशुतोष परमेश्वर ने उस बालक का
नाम रख दिया अनोमतन् सुन्दर सुरूप।
साथ ही किया आदेश मनोहर बालक यह
निश्चय ही होगा इस धरती का आद्यभूप॥ १४॥

उस अनोमतन् की हुई राजधानी सुरम्य
था जिसका नाम अयोध्या, थी जो भव्यपुरी।
परमेश्वर की आज्ञा पालन के हेतु स्वयं
सुरपति महेन्द्र ने विरचित की वह दिव्य पुरी॥ १५॥

निवेशनार्थं स्वपुरात्स पुर्याः
शक्रो यदा प्रास्थित दिव्यशक्तिः ।
मध्येपथं दैववशात्तदानीं
स सङ्गतोऽभूदृषिभिश्चतुर्भिः ।। 16 ।।

अच्छन्गावीदाहयुगाग्रयाग-
सञ्ज्ञा अभूवन्नृषयो वरास्ते ।
तन्नामधेयादिममक्षरौघ-
माश्रित्य पुर्याः कृतमास्त नाम ।। 17 ।।

(प्रहर्षिणीवृत्तम्)

सम्प्राप्तो जननमनोमतन्नृपस्य
सत्पुत्रो दशरथ इत्युदारसत्त्वः ।
तस्याभूदखिलजगन्नमस्यभूतः
श्रीरामो गुणगणमण्डितस्तनूजः ।। 18 ।।

तस्यैवाखिलजनवन्दितस्य दिव्यं
चारित्रं विशदमुपास्य रामभक्ताः ।
गायन्ति स्वरचितकाव्यमाध्यमेन
तत्काव्यं प्रसरति रामकीर्तिनाम्ना ।। 19 ।।

उस पुरी अयोध्या की रचना के लिए इन्द्र
जब स्वर्गलोक से चले दिव्यशक्ति के निधान।
दैवात् उस समय उन्हें मध्य पथ में सहसा
मिल गये चार ऋषि श्रेष्ठ सत्यतः ज्ञानवान् ॥ १६ ॥

उन ऋषीश्वरों के नाम युगाग्र, याग, दाह
अच्छन्गवी थे, उनकी मेधा भी सर्वोत्तम।
इसलिए पुरी का नामकरण था किया गया
उन मुनियों के नामों का लेकर वर्ण प्रथम ॥ १७ ॥

राजाधिराज उन अनोमतन् को हुआ प्राप्त
दशरथ जैसा सत्पुत्र वस्तुतः अति उदार।

श्रीराम हुए उनके सुपुत्र गुणगण मण्डित
जो अखिल जगद्विख्यात तथा महिमा अपार ॥ १८ ॥

वे अखिल विश्ववन्दित उनका वह दिव्य चरित
श्रीरामभक्त श्रद्धा से गाते रहे सदा।
वह गीत बन गया महाकाव्य इस माध्यम से
है प्रचलित रामकीर्ति नामक वह काव्य तथा ॥ १९ ॥

तृतीयः सर्गः

(श्रीरामजन्मोपाख्यानम्)

(पूर्वपीठिका)

(अनुष्टब्वृत्तम्)

कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयीत्यभिधानिकाः ।
तिस्रो दशरथस्यासन् महिष्यो भुवि विश्रुताः ।। 1 ।।

सतीष्वपि सतीष्वस्य तासु नैवाप भूपतिः ।
सुतं तेन च खेदोऽस्य महांश्चित्तेऽभ्यवर्तत ।। 2 ।।

कलैकोटिसमाख्यस्य साहाय्येन ऋषेरसौ ।
यज्ञं पुत्रेष्टिनामानमचिकीर्षन्मृगाकृतेः ।। 3 ।।

स यज्ञाहरणात्पूर्वं परामर्ष्टुं समैहत ।
ईश्वरं, स ययौ तस्मात्कैलासं गिरिमुत्तमम् ।। 4 ।।

उत्पीडितं च भीतं च तदाऽऽसीद् भुवनत्रयम् ।
ब्रह्मविष्ण्वीश्वरावाप्तवरोन्मत्तासुराधमैः ।। 5 ।।

जायते पुत्ररूपेण यदि नारायणः स्वयम् ।
राज्ञो दशरथस्य स्यात् तदा रक्षाऽस्य निश्चितम् ।। 6 ।।

ईश्वरेणानुरोद्धव्यः स इति प्रत्यपीपदत् ।
तमृषिर्लोकलोकेशं लोकसङ्ग्रहमिच्छुकः ।। 7 ।।

तृतीय सर्ग

(पूर्वपीठिका)

दशरथ की तीन रानियां थीं कैकेयी, सुमित्रा, कौसल्या ।
जो तीन लोक में पृथ्वी पर दिखती थीं अतिशय विख्याता ॥ १ ॥

वे पतिपरायणा गुणशीला पर, उनके थी सन्तान नहीं ।
इससे दशरथ थे अधिक खिन्न मन में था क्लेश महान् यही ॥ २ ॥

मृगरूप मुनीश्वर कलैकोटि से सहायता नृप ने पायी ।
पुत्रेष्टि नाम के यज्ञ हेतु भूप ने व्यवस्था करवायी ॥ ३ ॥

यज्ञ से पूर्व वे परामर्श के लिए गये ईश्वर (शिव) के समीप ।
उनका निवास कैलास अधिक था उत्तम गिरियों में सटीक ॥ ४ ॥

उस समय विश्व उत्पीड़ित था दानव गण दिखते अति प्रचण्ड ।
ब्रह्मा महेश विष्णु से मिला वरदान इसी से थे उद्दण्ड ॥ ५ ॥

यदि नारायण स्वयमेव पुत्र रूप में जन्मते हैं किञ्चित् ।
राजा दशरथ के यहाँ, तभी रक्षा हो सकती है निश्चित ॥ ६ ॥

जग के हित हेतु ऋषीश्वर भी थे गये जहाँ वे विश्वनाथ ।
इसलिए कि वे नारायण से अनुरोध करें लोक के नाथ ॥ ७ ॥

ओमित्युवाच तमृषिमीश्वरः सद्य एव च ।
न्यमन्त्रयत देवेशं प्रभुं नारायणं तदा ।।8।।

तन्निमन्त्रणमासाद्य नारायण उपागमत् ।
कैलासशैलं त्वरितं समगंस्तेश्वरेण च ।।9।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
भवान् दशरथापत्यं भवत्विति मतिर्मम ।।10।।

एवमुक्तो महेशेनोमित्युवाच रमापतिः ।
एवं भविष्यति यदि शङ्खचक्रगदा मम ।।11।।

अनन्तनागेन समं लक्ष्म्या चापि महेश्वर ।
मनुष्यरूपेण महीमागच्छेयुर्मया सह ।।12।।

तथास्त्विति महेशस्तं प्रत्युवाच ययौ स च ।
ऋषिं तदोन्मुखीभूय महेश इदमुक्तवान् ।।13।।

निवर्तस्व ऋषे! तावदयोध्यामाहरस्व च ।
पुत्रेष्टियज्ञं यद्वह्नेर्दिव्यः कश्चन पूरुषः ।।14।।

प्रदीप्तसर्वावयवो दिव्याभरणभूषितः ।
अन्नपिण्डान् करे गृह्णन् चतुरः प्रकटीभवेत् ।।15।।

दक्षिणस्या दिशः कश्चित्तस्मिन्नेव क्षणे ऋषे! ।
समापत्यान्नपिण्डार्धमाच्छिद्यैवोत्पतिष्यति ।।16।।

पिण्डानामवशिष्टौ द्वौ भोजयेर्महिषीर्ऋषे ! ।
राज्ञ्यो येन भवेयुस्ता अन्तर्वत्न्यः शुभाङ्गनाः ।।17।।

जनयेयुः सुतांश्चापि चतुरश्चतुराञ्शुभान् ।
येन लोकस्य कल्याणं भविष्यति भविष्यति ।।18।।

शिवशंकर बोले मुनिवर से 'ऐसा ही होगा' ऋषिवर ! अब ।
तदनन्तर प्रभु नारायण को शिव ने भी वहीं बुलाया तब ॥ ८ ॥

आमंत्रण उनका पाते ही तत्काल आ गये विष्णु वहाँ ।
शीघ्र मिले शिव से हरि भी कैलास शैल पर सहज वहाँ ॥ ९ ॥

सज्जन की रक्षा हेतु तथा दुष्टों का करने को विनाश ।
दशरथ के पुत्र आप होवें ऐसी मति, मेरी यही आश ॥ १० ॥

सुनकर महेश के विनय वचन नारायण बोले—हे शंकर !
ऐसा ही होगा शंख, चक्र यदि गदा उतर आयें भू पर ॥ ११ ॥

लक्ष्मी भी शेषनाग के संग हे विश्वनाथ ! यदि आ जायें ।
धारणकर मानव रूप सभी मेरे संग धरती पर आयें ॥ १२ ॥

बोले महेश—'ऐसा ही हो' नारायण तो निज धाम गये ।
तदनन्तर ऋषि से ईश्वर ने उन्मुख होकर ये वचन कहे ॥ १३ ॥

हे मुनिवर ! वापस जाकर के उसी अयोध्या में पहुंचो तुम ।
पुत्रेष्टियज्ञ करना जिससे हो प्रकट सुदिव्य पुरुष उत्तम ॥ १४ ॥

सर्वालंकारों से मण्डित उसके सब अंग प्रकाशमान ।
हाथों में लिए वह अन्न पिण्ड हुए अग्नि से प्रकट देदीप्यमान ॥ १५ ॥

दक्षिण से आयेगा कोई उड़ जाये ले अर्धान्नपिण्ड ।
उस समय उपस्थित होगा वह ले जाने को तब अन्नपिण्ड ॥ १६ ॥

जो शेष रहा अर्धान्नपिण्ड दे देना उसे रानियों को ।
खाते ही उसे गर्भ होगा मुनिवर ! तत्काल रानियों को ॥ १७ ॥

होंगे उत्पन्न चार बालक जो होंगे सुन्दर, बुद्धिमान ।
जिनसे होगा इस जगती का हे ऋषे ! सतत कल्याण, मान ॥ १८ ॥

तथैव सर्वं सम्पन्नं यथोचे प्रभुरीश्वरः ।
प्रभोर्वाक्यं महेशस्य न कदाप्यन्यथा भवेत् ।। 19 ।।

कौसल्यातः प्रजातोऽभूत्स्वयं नारायणः प्रभुः ।
रामरूपेण हरितवर्णो वर्ण्यो विपश्चिताम् ।। 20 ।।

चक्रं भरतरूपेण कैकेय्या गर्भतोऽभवत् ।
रक्तवर्णो भृशं रक्तः स्वभ्रातुः पादपङ्कजे ।। 21 ।।

नागशङ्खे उभे जाते सुमित्रागर्भतस्तदा ।
सम्भूयैव पीतवर्णलक्ष्मणाकृतिधारिणी ।। 22 ।।

गदा शत्रुघ्नरूपेण जाता पुत्रोऽरुणाकृतिः ।
तस्या एव सुमित्राया गर्भतो भ्रातृवत्सलः ।। 23 ।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम्)

एवं पृथिव्यामवतीर्ण आसी-
न्नारायणो लोकपरायणः प्राक् ।
स्वैर्वाहनैः शङ्खगदात्रिशूल-
चक्रैस्तदीयानुजरूपधृद्भिः ।। 24 ।।

जैसा ईश्वर ने कहा वही सब कुछ तो था सम्पन्न हुआ ।
शंकर का वचन सहज जग मेंअन्यथा कभी भी नहीं हुआ ॥ १९ ॥

कौसल्या से उत्पन्न हुए वे नारायण भगवान् स्वयम् ।
श्री रामरूप में हरितवर्ण कवियों की वाणी रूप स्वयम् ॥ २० ॥

कैकयी के गर्भ से हुए उत्पन्न चक्र ही भरत रूप ।
वे रक्तवर्ण निज भ्राता के उन अरुण चरण के ही स्वरूप ॥ २१ ॥

फिर शेष-शंख दोनों जन्मे गर्भ से सुमित्रा के ऐसे ।
उत्पन्न हुए लक्ष्मण उस क्षण वे पीतवर्ण की आकृति से ॥ २२ ॥

शत्रुघ्न रूप में गदा हुई वह पुत्र अरुण आकृति का था ।
उत्पन्न सुमित्रा से वह भी जो परम-भ्रातृ-वत्सल भी था ॥ २३ ॥

इस भाँति धरा पर हुए अवतरित पहले ही
वे नारायण जो लोक-परायण कहलाये ।
अपने वाहन के साथ गदा, त्रिशूल, शंख
चक्रादि उन्हीं के अनुज रूप धर कर आये ॥ २४ ॥

चतुर्थः सर्गः

(नन्दकोपाख्यानम्। रावणस्य पूर्वजन्मवृत्तान्तः)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

नारायणस्य ह्यवतारकाले
लङ्कापुरीं राक्षसजातिमुख्यः ।
शशास जेता भुवनत्रयस्य
दशाननो वेदविदां वरेण्यः ।।1।।

भ्रातॄनसौ स्वान् भृशमत्यशेत
वीर्येण वीरानपि योद्धृवर्यः ।
तत्पूर्वजन्मार्जितकर्मणोऽभूत्
प्रभावतः कर्मगतिर्विचित्रा ।।2।।

अभूत्पुरा नन्दकसञ्ज्ञकोऽसौ
कैलासशैले किल देवयोनिः ।
महेश्वरं द्रष्टुमुपागतानां
प्रक्षालयन् पादयुगं सुराणाम् ।।3।।

स सेवकत्वेन नियुक्त एवं
विनोदभाङ् निर्जरसां बभूव ।
उपाहसंस्ते समुपेयिवांस-
स्तं शीर्षकेशोद्धरणक्रमेण ।।4।।

चतुर्थ सर्ग

(नन्दकोपाख्यान तथा रावण का पूर्वजन्मवृत्तान्त)

जब लिया अवतार हरि ने उस समय
राक्षसों से थी भरी लंकापुरी।
तीन लोकों का विजेता वेदविद्
था संभाले दशानन शासनधुरी ॥ १ ॥

बन्धुओं में अग्रणी वह था तथा
शूरवीरों में अधिक बलवान् था।
पूर्वजन्मार्जित जो उस के कर्म थे
कर्मगति में एक वही प्रभाव था ॥ २ ॥

वह हुआ पहले कि नन्दक नाम था
देवयोनि प्राप्त कर कैलास पर।
देवगण आते वहाँ शिव दर्शनार्थ
वह उन्हीं के चरण धोता था निरन्तर ॥ ३ ॥

वह रहा शिव का बना सेवक वहाँ
देवगण के साथ हास-विनोद कर।
किन्तु वे परिहास में शिर केश के
मोद पाते थे कि उन्हें उखाड़ कर ॥ ४ ॥

क्रमेण तेनाभवदेष केश-
हीनोऽतिदीनस्त्रिदशौघसेवी ।
हीनत्वबुद्ध्याऽऽत्मनि चाप दुःखं
ययौ महेशं च स तन्निवृत्त्यै ।।5।।

बद्धाञ्जलिः प्रार्तथतैनमाशु-
तोषं निजं तोषमभीप्सुरेषः ।
तादृग् वरं देहि विभो ! भवेयं
न येन भूयो ह्युपहासपात्रम् ।।6।।

युगानि नाना मयका विसोढा
ऽवमाननादुःखपरम्परा भोः ! ।
नातः परं सोढुमहं क्षमस्तां
तद्देहि मे शक्तिमनन्तशक्ते ! ।।7।।

यमेव तावत्स्वकराङ्गुलेन
विनिर्दिशेयं स भवेत्प्रमीतः ।
तथास्त्विति प्रत्यवदन्महेशः
सेवां तदीयां गणयन् पुरस्तात् ।।8।।

ततोऽनु देवाः समुपेयिवांसः
कैलासशैलं प्रभुदर्शनार्थम् ।
समाचरन्पूर्ववदेव तस्मि-
न्नबुध्यमाना नवशक्तिमस्य ।।9।।

तदाङ्गुलं तद्दिशि सोऽकरोद् द्राक्
पेतुश्च देवा व्यसवः क्षणेन ।

इस भाँति केश विहीन क्रमशः हो गया
देव-सेवक दीन दुखिया बन गया।
हीन भावों से भरी थी बुद्धि भी
इसलिए वह पास शिव जी के गया ॥ ५ ॥

जोड़कर, अनुनय किया महेश से
चाह थी निज अभीष्ट तृप्ति की उसे।
नाथ यह वर दें मुझे जिससे पुनः
बच सकूं इस भाँति के उपहास से ॥ ६ ॥

घोर, पीड़ा, वेदना, अपमान सब
मैं युगों से झेलता ही आ रहा।
दो मुझे वह अपार शक्ति इस समय
क्योंकि सहने का न अब साहस रहा ॥ ७ ॥

मैं दिखाऊं अंगुली जिसके लिए
मृत्यु भी तत्काल उसकी हो स्वतः।'
'हो यही, 'बोले महेश्वर उस समय
सोचकर उसकी अचल सेवा, अतः ॥ ८ ॥

बाद में आते रहे वे देवगण
ईश-दर्शन हेतु जब कैलास पर।
था किया व्यवहार पहले की तरह
शक्ति उसकी, जब न कुछ भी जानकर ॥ ९ ॥

जब दिखायी अंगुली उसने तभी
देव गण तत्काल ही मृत हो गये।

तदेषु भूयो भयमाततान
जग्मुः प्रभुं ते च समे जवेन ।।10।।
सर्वे च सम्भूय तमार्थयन्तो-
पायं स्वरक्षार्थमभिप्रयुक्ताः ।
तेषां दशां वीक्ष्य कृपालुरेष
नारायणं द्राङ् मनसा जगाम ।।11।।

उपस्थितेऽस्मिन्समुवाच चैनं
देवानवेर्निर्जितनन्दकस्त्वम् ।
एवं भवेदीश्वर ! यत्त्वमात्थ
त्वदीयवाङ् मान्यतमा मता मे ।।12।।

ततोऽप्सरोरूपमसौ दधानः
सम्मोहनं, नन्दकमाससाद ।
क्रीडारतश्चापि बभूव तेन
स्मराभिभूतः स बभूव येन ।।13।।
यावत्तया[1] सङ्गममाचकाङ्क्ष
नृत्याम सैनं समुवाच तावत् ।
नृत्यप्रसङ्गे च निजाङ्गुलं स्वा-
धःकाय एषा समपातयिष्ट ।।14।।

अदीर्घदृष्टिः खलु नन्दकोऽपि
चकार तद्वत् प्रबभञ्ज तं[2] च ।
छिद्रं प्रपश्यंश्च वधाय तस्य
नारायणस्तत्र समुद्यतोऽभूत् ।।15।।

1. तयाऽप्सरसा 2. तम्-अधःकायम्

देखकर यह दृश्य वे भयभीत से
शीघ्र ही थे पास शंकर के गये ॥ १० ॥

प्रार्थना करने लगे, मिलकर सभी
आत्मरक्षा की अधिक चिन्ता रही ।
देखकर उनकी दशा आयी दया
विष्णु को मन से पुकारा शीघ्र ही ॥ ११ ॥

आ गये जब विष्णु, शिव बोले—प्रभो !
जीत नन्दक को बचायें देवता ।'
'अब यही हो', विष्णु बोले—'आपकी
आज्ञा मैं प्राणपण से मानता ॥ १२ ॥

अप्सरा का रूप हरि ने धर लिया
मोहिनी छवि-मुग्ध नन्दक हो गया ।
साथ उनके खेलते ही खेलते
काम के वश में सहज वह हो गया ॥ १३ ॥

जब हुई संभोग की इच्छा उसे
नृत्य का संकेत हरि ने कर दिया ।
नृत्य में निज अंगुली को ही अपने
अधः काय की ओर सहसा कर दिया ॥ १४ ॥

कुछ समझ पाया न नन्दक मोहवश
अनुसरण हरि का स्वतः करता रहा ।
हो गया विकलांग हरि ने, देख यह
शीघ्र ही वध हेतु निश्चय कर लिया ॥ १५ ॥

नारायणेन च्छलितोऽस्मि तावद्
बुद्ध्वेति दुःखार्दितचित्तवृत्तिः ।
नारायणं नन्दक आह नैतत्
कृतं त्वया साधु विजानताऽपि ।। 16 ।।

नारायणेनापि समाश्रितोऽभूत्
पन्थास्त्वया निन्द्यतमो जगत्याम् ।
नारायणस्तन्निशमय्य वाक्यं
तमाह यद्येवमिहास्ति ते धीः ।। 17 ।।

विधानमेवं विदधामि तर्हि
यत्त्वं प्रजातो जननान्तरे स्याः ।
दशाननो विंशतिबाहुकश्च
जायेय चाहं द्विभुजैकशीर्षः ।। 18 ।।

योत्स्ये त्वयाऽहं च तथास्थितस्त्वां
सम्प्रापयिष्ये च यमस्य धाम ।
उक्त्वैवमेनं परिसान्त्वपूर्वं
नारायणस्तस्य वधं चकार ।। 19 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

स एव नन्दको नाम दशवक्त्रोऽन्यजन्मनि ।
अभवद्रामभद्रश्च प्रभुर्नारायणोऽभवत् ।।20 ।।

छल लिया हरि ने सहज यह जानकर
वह व्यथा-पीड़ित-दुःखित-सा हो गया।
कह उठा नन्दक—'प्रभो! सब जानकर
आपसे दुर्वृत्त कैसे हो गया ॥ १६ ॥

आप नारायण त्रिलोकीनाथ हैं
किन्तु निन्दित पंथ पर क्यों चल दिये।
श्रवण कर उसके वचन हरि ने कहा—
यदि तुम्हारी मति सहज ऐसी रहे ॥ १७ ॥

तो बनाता हूं यही विधि तुम स्वयं
जन्म लोगे दश मुखों के साथ ही।
बीस होंयेगीं भुजायें, मैं स्वयं
जन्म लूंगा, दो भुजा, मुख एक ही ॥ १८ ॥

उस समय तुमसे करूंगा युद्ध मैं
फिर तुम्हें यम-धाम भेजूंगा सहज।
सान्त्वना देकर उसे इस भांति तब
कर दिया श्री विष्णु ने वध भी सहज ॥ १९ ॥

दूसरे जन्म में नन्दक ही हो गया दशानन नाम पड़ा।
वे प्रभु नारायण लिये जन्म श्री रामचन्द्र था नाम पड़ा ॥ २० ॥

(सीताजन्मोपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

दशवक्त्रस्वरूपेण स्थितोऽसौ पृथिवीतले ।
समुद्रपरिखां लङ्कामशिषदृद्धिशालिनीम् ।। 21 ।।

नैकासु तस्य राज्ञीषु मन्दोदर्यामवर्तत ।
प्रेमातिशय इत्यस्याः स वचो बह्वमन्यत ।। 22 ।।

आघ्राय गन्धं पिण्डानां प्रसरन्तं चतसृषु ।
दिक्षु सोचे स्वभर्तारमशनायामि तानिति ।। 23 ।।

समादृतस्तद्वचसि स आहासुरयोषितम् ।
काकनानामिकामेकां पिण्डान्सत्वरमाहर ।। 24 ।।

काकरूपं समाधृत्य यथावुत्तरकोसलान् ।
पिण्डानामर्धभागं च समापत्योद्दधार सा ।। 25 ।।

उद्धृत्य तानानिनाय पुरीं लङ्कां ददौ च सा ।
रावणाय नृपायैतान् मन्दोदर्यै ददौ च सः ।। 26 ।।

तानशित्वा बभूवान्तर्वत्नी मन्दोदरी तदा ।
क्रमेण सुषुवे चापि कन्यामेकां विलक्षणाम् ।। 27 ।।

जातमात्रैव सा कन्या रावणो हन्यतामिति ।
त्रिरवादीद्वचो नो च पित्रोस्तच्छ्रोत्रमापतत् ।। 28 ।।

राध्यन्तोऽस्यै कन्यकायै विभीषणपुरोगमाः ।
अनेके शास्त्रनिष्णाता गणकाः समजीगणन् ।। 29 ।।

दशकण्ठकुलध्वंसं लङ्काविध्वंसमेव च ।
यच्छ्रुत्वा दशकण्ठोऽभूदाकण्ठं भयपीडितः ।। 30 ।।

पृथ्वी तल पर तो वह रावण दशमुखस्वरूप विख्यात हुआ ।
सागर से घिरी समृद्धिमयी लंका पर उसने राज्य किया ॥ २१ ॥

उसकी अनेक रानियां रहीं पर, प्रिय थी मन्दोदरी अधिक ।
अत्यन्त प्रेम के कारण वह था उसकी बातें मानता अधिक ॥ २२ ॥

पाकर सुगन्ध उन पिण्डों की फैली जो चारों दिशामध्य ।
बोली निज पति से-'प्राणनाथ ! उनको खाना चाहती, सत्य ॥ २३ ॥

आदर कर प्रिया-वचन उसने बुलवाया एक राक्षसी को ।
बोला—काकना, शीघ्र जाकर तुम ले आओ उन पिण्डों को ॥ २४ ॥

तब काक रूप धारण करके वह उत्तर कोसल जा पहुंची ।
तण्डुल पिण्डों का अर्धभाग चुन कर काकना तुरत पहुंची ॥ २५ ॥

लंका में उन्हें लिये आयी रावण को उसने थमा दिया ।
राजा रावण ने यथाशीघ्र अपनी रानी को उन्हें दिया ॥ २६ ॥

खाकर मन्दोदरी उन्हें तभी हो गयी गर्भिणी सहज रूप ।
कुछ समय बाद था दिया जन्म कन्या को जो अद्भुत स्वरूप ॥ २७ ॥

पैदा होते ही कन्या वह कह उठी कि रावण मर जाये ।
वह तीन बार बोली, परन्तु दम्पति थे उसे न सुन पाये ॥ २८ ॥

कन्या-भविष्य के विचारार्थ आये अनेक ज्योतिषी श्रेष्ठ ।
ज्योतिष में जो निष्णात परम जिनमें थे विभीषण सर्वश्रेष्ठ ॥ २९ ॥

इस कन्या से कुल का विध्वंस होगा इससे लंका का क्षय ।
यह सुन दशकंठ हुआ पीड़ित अब लगने लगा उसे अति भय ॥ ३० ॥

विभीषणं भ्रातरं च बभाण स भयार्दितः ।
कन्याया विषयेऽमुष्या यथेच्छसि तथा कुरु ।। 31 ।।

विभीषणो घटे न्यास्थत्कन्यामाह च किङ्करम् ।
तरङ्गिण्यां घटोऽयं भोः ! सत्वरं क्षिप्यतामिति ।। 32 ।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

क्षिप्तो बभूवाथ घटः क्षणेन
विभीषणादेशवशंवदेन ।
तत्किङ्करेण, प्रबभूव हन्त!
तरङ्गिणी मज्जयितुं न तं च ।। 33 ।।

कन्या हि लक्ष्म्या अवतार आसीद्
अतः प्रभावादुदपादि तस्याः ।
मध्येनदि व्याप्तविचित्रगन्धं
पद्मं यदात्मन्यधि कुम्भमाधात् ।। 34 ।।

लक्ष्म्याः प्रभावेण च कुम्भ एष
तरंस्तरङ्गेषु सुखं तटिन्याः ।
योगीव पद्मासनमाप्रपन्न-
स्तस्यास्तटं तत्समुपाजगाम ।। 35 ।।

यत्रास्त राजा ऋषिवेषधारी
नाम्ना ऽतपस्यज्जनको मनस्वी ।
स्नानार्थमस्यास्तटमीयिवान् स
पद्मे शयानं घटमालुलोके ।। 36 ।।

भय त्रस्त दशानन भाई से बोला कि विभीषण वही करो ।
इस कन्या के लिए तात ! जैसा तुम चाहो वही करो ॥ ३१ ॥

सेवक से कहा विभीषण ने कन्या को घट में रखकर तुम ।
उस को सरिता में हे सेवक ! शीघ्रतिशीघ्र फैंक आओ तुम ॥ ३२ ॥

कन्यका वह लक्ष्मी-अवतार थी
अस्तु, उसकी शक्ति और प्रभाव से ।
व्याप्त अद्‌भुत गन्ध पद्म हुआ प्रकट
घट नदी में था उसी आधार से ॥ ३४ ॥

कुम्भ भी उन लक्ष्मी की शक्ति से
सहज सरिता की लहर में तैरता ।
आ गया तट पर किसी योगी-सदृश
जो कि पद्मासन लगाये दीखता ॥ ३५ ॥

थे वहां ऋषिवेषधारी जनक नृप
वे मनस्वी थे तपस्या में निरत ।
स्नान करने आ गये तट पर जहां
देखा उन्होंने घट पद्म पर सोया तुरत ॥ ३६ ॥

आविष्ट औत्सुक्यभरेण यावत्
कुम्भं स उद्घाटयते नृपर्षिः ।
तावद्ददर्शान्तरमुष्य कन्यां
सद्यःप्रसूतामतिविस्मितः सः ।। 37 ।।

नद्या अधिष्ठात्र्यतिसौम्यभावा
नाम्ना प्रसिद्धा मणिमेखलेति ।
सहान्यदेवैः कुशलं निजाङ्के
न्यध्यायदस्याः शुभकन्यकायाः ।। 38 ।।

लक्ष्मीरियं भूतलमागतेति
विवेद सा साधुतयाऽतिसाध्वी ।
होतोरतः कुम्भमुखापिधाने-
ऽप्यजीवदेषा न च कष्टमाप्नोत् ।। 39 ।।

राजर्षिरेषोऽभिललाष गन्तुं
राज्यं स्वकं नो च ववाञ्छ भङ्गम् ।
निजस्य तावत्तपसस्तपस्वी
कुम्भं ततोऽरण्यमसावनैषीत् ।। 40 ।।

कस्यापि वृक्षस्य च तत्र मूले
ऽखानीदसौ गर्तमुपायकामः ।
देवान् स सम्प्रार्तथतापि कन्या
पत्नी भवित्री यदि केशवस्य ।। 41 ।।

लोकेऽवतीर्णस्य तदाऽत्र पद्म-
माविर्भवत्वात्मनि चापि कुम्भम् ।

देखकर घट वे हुए उत्सुक सहज
और जब राजर्षि ने खोला उसे ।
देखकर सद्यःप्रसूता कन्यका
घोर विस्मय में पड़े उस समय वे ॥ ३७ ॥

उस नदी की अधिष्ठात्री पूज्या
नाम था मणिमेखला विख्यात वह ।
अन्य देवों के सहित अर्पित किया
गोद में शुभ कन्यका नृप के सहज ॥ ३८ ॥

आ गयीं भूपर कि लक्ष्मी साध्वी
उन नृपति को बोध ऐसा हो गया ।
बन्द घट में इसलिए जीवित रहीं
कष्ट भी उनको न कुछ उसमें हुआ ॥ ३९ ॥

हो गयी इच्छा, चलें निज राज्य में
किन्तु तप के भंग-भय-वश रुक गये ।
इसलिए राजर्षि लेकर कुम्भ को
उस समय वन में तुरत वे ले गये ॥ ४० ॥

खोदकर वे किसी तरु के मूल में
गाड़ देने का उपक्रम भी किया ।
निवेदन भी सभी देवों से किया
यदि बनेगी कन्यका केशवप्रिया ॥ ४१ ॥

जब कभी अवतार होगा विष्णु का
पद्म जन्मेगा उसी पर कुम्भ भी ।

गृह्णात्विमं, तच्च तथा बभूव
द्राक् तत्र पद्मं प्रकटीबभूव ।।42।।

कुम्भं तदाऽतिष्ठिपदत्र पद्मे
देवांश्च कन्याकुशलं समन्तात् ।
ऋषिः स सम्प्रार्तथतातिभक्त्या
ततो न्यवर्तिष्ट तपस्यितुं च ।।43।।

तपस्यतः षोडश तस्य याताः
संवत्सरा घोरतमां तपस्याम् ।
सिद्धिश्च नाप्ताऽभवदित्यनेन
नातः परं तप्तुमसौ चकाङ्क्ष ।।44।।

ववाञ्छ चापि प्रतिगन्तुमेष
स्वमेव राज्यं पुनरेव राजा ।
प्राक् तत्र गन्तुं स्मृतिरुद्बभूव
तस्यान्तरङ्गे विमले घटस्य ।।45।।

स्वसेवकं सोममसाववुवाच
त्वं याहि वृक्षं निखनाशु चैव ।
तन्मूल एकं घटमानयेश्च
तदेव चक्रे च वशंवदः सः ।।46।।

दीर्घं खनंश्चापि यदा स नाप
घटं तदा म्लानमुखो नृपं सः ।
उपेयिवान्वृत्तमदश्च दुःखा-
न्यवीविदत्तं स च तं समाह ।।47।।

स्थान पायेगा, स्वतः ऐसा हुआ
जब वहां पैदा हुआ वह पद्म भी ॥ ४२ ॥

तब वहीं पर कुम्भ को रख पद्म पर
सर्वविधि उस कन्यका के कुशलहित ।
देवताओं को मनाया भक्ति से
लौट आये जनक निज साधना हित ॥ ४३ ॥

जब कि सोलह वर्ष तप में लग गये
घोरतम उनकी रही वह साधना ।
पर न उनको सिद्धि कुछ भी मिल सकी
अस्तु, तप की अब न उनकी कामना ॥ ४४ ॥

लौटने के हेतु अपने राज्य में
भूप की इच्छा हुई अतिशय प्रबल ।
पूर्व चलने के उन्हें आया स्मरण
कुम्भ वह तब हृदय था उनका विमल ॥ ४५ ॥

सोम नामक दास से बोले—तुरत
वृक्ष के उस मूल को खोदो वहाँ ।
मूल में है एक घट लाओ उसे,
मान कर आज्ञा गया सेवक वहाँ ॥ ४६ ॥

खोदकर गहरा, न पाया घट वहां
लौट आया म्लान मुख सेवक तथा ।
दुःखित होकर भूप से वृत्तान्त सब
थी निवेदित कर दी वह सारी कथा ॥ ४७ ॥

त्वं राजधानीं मिथिलाभिधानां
प्रयाहि तस्याश्च समानयस्व ।
हलैः खनित्रैश्च सुसज्जितानि
सैन्यानि पृथ्वीप्रविदारणाय ।। 48 ।।

यदा चिरायापि न तानि शेकुः
कुम्भं समासादयितुं तदानीम् ।
हलं नृपालः स्वयमेव धृत्वा
समुद्यतो भूमिविकर्षणेऽभूत् ।। 49 ।।

तत्कालमेव प्रकटो घटोऽभूत्
तन्मध्य आसीच्च विलोभनीया ।
अध्यासती पङ्कजपत्रपङ्क्तिं
दिव्यस्वरूपा खलु कन्यकैका ।। 50 ।।

गण्डच्छविन्यक्कृतपुण्डरीका-
ममूं विशालायतपक्ष्मलाक्षीम् ।
हेमद्युतिं चन्द्रमरीचिगौरीं
दृष्ट्वा जना विस्मयमभ्युपायन् ।। 51 ।।

यतोऽभवल्लाङ्गलकृष्टसीता-
समुद्भवोऽस्या अत एव नाम ।
सीतेति तस्या अभवत्पितेति
ख्यातश्च पृथ्व्यां जनको बभूव ।। 52 ।।

(सीताविवाहोपाख्यानम्)

तया समं संन्यवृतत्तपस्वी
स्वां राजधानीं जनको नृपेन्द्रः ।

भूपति बोले—हे सोम ! राजधानी मिथिला
जाओ अविलम्ब वहां से सेना लाओ तुम ।
हल तथा कुदालों से सज्जित सेना अपार
धरती-प्रविदारण हेतु यहां ले आओ तुम ॥ ४८ ॥

जब सेना ने भी अधिक समय तक किया यत्न
भू-खनन हुआ, पर, कुम्भ उस समय मिला नहीं ।
तब राजा स्वयमेव हाथ में लेकर हल
तैयार हो गये भूमि जोतने हेतु वहीं ॥ ४९ ॥

तत्काल प्रकट हो गया वहीं पर कुम्भ सहज
थी उसी कुम्भ के मध्य सुघर-सुन्दर स्वरूप ।
पंकज शतदल के मध्य रही आसीन एक
षोडशी कन्यका निश्चित थी वह दिव्य रूप ॥ ५० ॥

उसके कपोल की छवि से लज्जित पुण्डरीक
उसके विशाल लोचन विस्फारित पद्मद्वय ।
स्वर्णाभा तथा चन्द्र किरणों-सी गौरवर्ण
देखकर उसे लोगों को हुआ घोर विस्मय ॥ ५१ ॥

हल के कर्षण से हुई प्रकट इस कारण ही
उस बाला का सीता सार्थक पड़ गया नाम ।
सीता जिनकी कन्या थी उसके पिता जनक
विख्यात हुए पृथ्वी पर, उनका बढ़ा नाम ॥ ५२ ॥

सीता के साथ तपस्वी राजा जनक पुनः
लौट कर आ गये मिथिला नगरी में ।

विवाहयोग्यामवलोक्य तां च
स्वयंवरं संरचयाम्बभूव ।। 53 ।।

दिग्भ्यो विदिग्भ्यः समुपेयिवांस-
स्तद्वृत्तमाकर्ण्य महीमहेन्द्राः ।
अनिन्द्यसौन्दर्यमयीं तनूजा-
मुद्वोढुकामा मिथिलाधिपस्य ।। 54 ।।

स्वयंवरे शार्वमसौ न्यधत्त
शार्ङ्गं तदर्थं च विधिं व्यधत्त ।
आरोपितज्यं य इदं विदध्यात्
स मे तनूजां परिणेतुमर्हः ।। 55 ।।

ज्यारोपणस्यात्र तु का कथाऽऽसी-
न्नैकोऽपि राजन्यजनेषु शक्तः ।
आसीत्समुत्थापयितुं महेश-
शार्ङ्गं गरीयस्त्ववशादमुष्य ।। 56 ।।

उपस्थितस्तत्र स लक्ष्मणोऽभूत्
स्वयंवरे कौशिकसम्प्रयुक्तः ।
रामोऽभिरामोऽपि युवत्वमाप्तो
रामाभिसम्प्रार्थनयोपपन्नः ।। 57 ।।

उत्थापयामास धनुः प्रवीरः
शार्वं गरीयो ननु हेलयैव ।
उत्थापने तच्च बभूव भग्नं
स सीतया चापि वृतो बभूव ।। 58 ।।

परिणय के योग्य देखकर कन्या को सहर्ष
रच दिया स्वयंवर का आयोजन नगरी में ॥ ५३ ॥

यह सुनकर इच्छुक भूप देश-देशान्तर के
आ गये चतुर्दिक् से मिथिला में यथाशीघ्र ।
मिथिलापति की अनिन्द्य सौन्दर्यमयी कन्या
के साथ ब्याह करने की इच्छा से महीन्द्र ॥ ५४ ॥

उन जनकराज ने शिव का धनुष स्वयम्वर के
रख दिया मंच पर, लगी शर्त भी साथ-साथ ।
जो भी इस की प्रत्यंचा सहज चढ़ा देगा
सीता का परिणय होगा तब उसके ही साथ ॥ ५५ ॥

प्रत्यंचा के आरोपण की क्या बात कहें
राजागण मध्य न कोई दिख पाया समर्थ
वह धनुष उठा पाया कोई न नरेश क्योंकि
शिव जी का धनुष बहुत भारी था एतदर्थ ॥ ५७ ॥

तदनन्तर आये राम साथ लक्ष्मण भी थे
पा कौशिक का निर्देश स्वयंवर मध्य वहाँ ।
अभिराम राम थे सुन्दर, युवा अवस्था थी
उस दिव्य सुन्दरी से विवाह की चाह वहाँ ॥५६ ॥

राम ने उठाया सहज शिव-धनुष यद्यपि वह
सचमुच भारी था जब कि राम थे महावीर ।
हो गया भग्न उस समय उठाने के क्रम में
तब सीता ने चुन लिया उन्हें जो परमवीर ॥ ५८ ॥

विदेहजां काञ्चनदेहयष्टिं
शास्त्रोक्तरीत्या परिणीय रामः ।
पुरीं स्वकीयां न्यवृतत्सुखेन
प्रजाजनौघैरभिनन्द्यमानः ।।59।।

(रामासुरोपाख्यानम्)

रामासुराख्यः पथि दिव्ययोनि-
र्ज्ञात्वा धनुर्भङ्गमथेशवरस्य ।
तमाह्वतातिप्रतिकूलभावा-
दयुद्ध तेनाथ च घोरयुद्धम् ।।60।।

रामेण रामासुरनामकोऽसौ
भुवि प्रसिद्धं परशुं दधानः ।
पराजितः शस्त्रभृतां वरेण
प्रदर्शितश्चापि निजस्वरूपम् ।।61।।

नारायणोऽयं प्रकटः पुरस्ता-
न्मद्भागधेयादिति हृष्टरोमा ।
तस्यानुकूल्याय समार्पिपत्तद्
धनुर्महेशः प्रददे पुरा यत् ।।62।।

त्रिमेघनाम्नेऽस्य पितामहाय
समाददे तन्मुदितश्च रामः ।
चिक्षेप खे चैतदिति ब्रुवाणो
न्यासोऽस्त्विदं मे वरुणाह्वदेवे ।।63।।

उस कनक यष्टि काया विदेह की कन्या संग
शास्त्रोक्त रीति से हुआ राम का ब्याह वहाँ ।
तदनन्तर लौटे वे अपनी नगरी में सुख से
अभिनन्दन उनका किया, प्रजा जन मुदित जहाँ ॥ ५९ ॥

पथ में उन दिव्ययोगी रामासुर ने सुनकर
हो गया भंग शिवजी का धनुष, हुआ प्रकुप्त ।
प्रतिकूल भाव जागे सहसा राम के विरुद्ध
इसलिए उन्होंने किया राम से घोर युद्ध ॥ ६० ॥

राम से पराजित हुए सहज वे रामासुर
जो परशु धारते हुए लोक में थे प्रसिद्ध
पर राम महावीरो में भी थे महावीर
इस समय दिखायी पड़ा चरित उनका प्रसिद्ध ॥ ६१ ॥

यह नारायण हैं मेरे सम्मुख हुए प्रकट
भाग्य से मेरे वे यही सोचकर हुए मुदित ।
करने को अनुकूल समर्पित किया उन्हें
जो धनुष दिया था शिव जी ने कुछ समय पूर्व ॥ ६२ ॥

अतिशय प्रसन्न हो धनुष राम को दिया वही
जो त्रिमेघ नाम पितामह को था प्राप्त हुआ ।
राम ने फैंक कर अम्बर में वह धनुष, कहा ।
यह न्यास रूप में वरुणदेव के पास रहेगा ॥ ६३ ॥

यथाभिकाङ्क्षं समुपस्थितं सन्
मद्धस्तगामित्वमुपैत्विदं द्राक् ।
रामः स रामासुरमेवमुक्त्वा
विसर्जयामास रघुप्रवीरः ।।64।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

एवं रामासुरे पूर्वं निर्जिते निर्जितेन्द्रियः ।
क्रममाणः पथा स्वेन रामोऽयोध्यामुपागमत् ।।65।।

मैं जब चाहूंगा तभी उपस्थित होगा यह
आयेगा मेरे हाथों में यह धनुष त्वरित ।
ऐसा कहकर राम किया विसर्जितसुर से
श्री रामभद्र रधुवर ने उनको मान सहित ॥ ६४ ॥

इस भांति जीत कर रामासुर
को, निर्जित इन्द्रिय राम चले ।
अपने पथ पर चलते-चलते
पुरी अयोध्या में आ पहुंचे ॥ ६५ ॥

पञ्चमः सर्गः

(रामवनवासोपाख्यानं
जिह्वोपाख्यानं च)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

प्राप्ते तु रामे स्वपुरीमयोध्यां
राज्येऽभिषेक्तुं जनकस्तमैच्छत् ।
कुब्जाप्रयुक्ता नहि केकयानां
वंश्याऽभ्यनन्दत्त्विदमस्य पत्नी ।।1।।

कुब्जाभिधाना परिचारिकाऽऽसीत्
प्रिया भृशं केकयराजपुत्र्याः ।
द्वेषस्य भावं रघुनन्दने या
न्यधाद्धृदि प्राक्चरितापमानात् ।।2।।

क्रीडारसादल्पवयाः कुमार-
स्तत्कुब्जपृष्ठं तरसा जघान ।
कुब्जत्वमस्या यत आश्वपागात्
सत्सङ्गमेनेव कुबुद्धिदोषः ।।3।।

क्रीडारसाद्दाशरथिः पुनश्च
किञ्चित्क्षणानन्तरमेव रामः ।

पञ्चम सर्ग

(राम वनवासोपाख्यान तथा जिह्वोपाख्यान)

जब रामभद्र निजपुरी अयोध्या में आए
राज्याभिषेक के हेतु पिता ने इच्छा की।
कुब्जा दासी से प्रेरित, नहीं प्रसन्न हुई
केकयनन्दिनी कैकेयी दशरथ की पत्नी ॥ १ ॥

वह कुब्जा नामक परिचारिका अधिक प्रिय थी
कैकेयी की, जो केकयराजा की तनया।
वह दासी रघुनन्दन से रखती द्वेष-भाव
अपमान हुआ जो पूर्व उसी से क्षुब्ध-हृदया ॥ २ ॥

बचपन में राजकुमार राम ने क्रीडावश
आघात किया कुब्जा के कूबड़ पर ऐसा।
जैसे कुबुद्धि गत दोष मिटें सत्संगति से
वैसे ही उसका कूबड़ लुप्त हुआ सहसा ॥ ३ ॥

फिर खेल-खेल में दशरथ सुत राम ने पुनः
कुछ ही क्षण के पश्चात् किया बाण-प्रहार।

बाणेन तस्यां प्रजहार येन
कुब्जत्वमस्यां प्रकटीबभूव ।।4।।

सर्वेऽपि पार्श्वस्थजना अनेन
दृश्येन तावद्धसितुं प्रवृत्ताः ।
अहो! जनानामुपहासपात्रं
रामेण नीता ऽस्म्यहमित्थमत्र ।।5।।

अनेन तस्या हृदयान्तरिक्ष-
मुद्वेगमेघान्तरितं बभूव ।
बालस्य लीलाऽपि विमुग्धभावा-
दत्यन्तमुद्वेगकरी भवेन्नु ।।6।।

निजावमानं निजमानसे सा
कुब्जा दधौ शल्यमिवार्त्तिदायि ।
वमाननायाः[1] प्रतिकारवेला-
मुदीक्षमाणा व्यनयच्च कालम् ।।7।।

वक्रा शरीरेण च चेतसा च
स्थिताऽभवत्साऽवसरप्रतीक्षा ।
राज्याभिषेको रघुनन्दनस्य
तस्याः कृते सोऽवसरो बभूव ।।8।।

पूर्वापकारप्रतिशोधनाय
दन्दह्यमाना हृदयेन कुब्जा ।
मत्वोपयुक्तावसरं जगाम
सा सत्वरं केकयराजपुत्रीम् ।।9।।

1. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोरित्यनेनाकारलोपे रूपम्।

आघात बाण का लगते ही वह कुबड़ापन
तत्काल प्रकट हो गया, हुआ था चमत्कार ॥ ४ ॥

जो पास खड़े थे लोग देख यह दृश्य सहज
सब के सब हंसने लगे हुआ कौतुक महान् ।
हो उठी दुःखी-उपहास पात्र मैं बनी यहाँ
अपमान राम के द्वारा मेरा अति महान् ॥ ५ ॥

उद्वेग-मेघ छाये उसके हृद्-गगन मध्य
उसकी पीड़ा का दिखता कुछ भी नहीं पार ।
शैशव का सचमुच वह अतीत भी कभी-कभी
होता अबोधवश किन्तु व्यथित करता अपार ॥ ६ ॥

वह निजापमान स्वयं मानस में रखे हुए
कण्टक समान दुःख दायक कुब्जा रही विकल ।
थी बहुत समय तक करती रही प्रतीक्षा वह
बदला लेने के लिए बनी आकुल-व्याकुल ॥ ७ ॥

वह वक्र हो चुकी थी काया से, चित से भी
कर रही प्रतीक्षा अवसर पाने की निशिदिन ।
राज्याभिषेक रघुनन्दन का आया जैसे
मिल गया सुअवसर उसे अचानक ही उस दिन ॥ ८ ॥

पहले जो अपमान हुआ उसके प्रतिशोध हेतु
जल रहा हृदय कुब्जा का, मन में शान्ति नहीं ।
अवसर उपयुक्त जान कर कुब्जा यथाशीघ्र
केकयनृप सुता कैकेयी के थी पास गयी ॥ ९ ॥

उवाच चैनां तनयः सपत्न्या
राज्येऽभिषिक्तो भवतीति वृत्तम् ।
ज्ञात्वाऽपि किं त्वं न कमप्युपायं
विचिन्तयस्यद्य विचारमूढा ।। 10 ।।

रामेऽभिषिक्ते नृपतौ पुरेऽत्र
का ते दशा वा भरतस्य वा स्यात् ।
अकालहीनं तत आश्रयस्व
कमप्युपायं न चिरं विधेहि ।। 11 ।।

दन्दह्यमाने भवनेऽग्निना स्यात्
कूपस्य तावत्खननं वृथैव ।
नो चेन्मतिस्ते स्फुरतीह भद्रे!
मतिं मम त्वं समुपाश्रयस्व ।। 12 ।।

स्मरस्यपि त्वं समराङ्गणे यद्
युद्धेऽसुरैः प्राणपणेन पूर्वम् ।
कष्टं प्रपन्नं पतिमभ्यरक्षः
सोऽदाद् वरौ ते च भृशं प्रतीतः ।। 13 ।।

याचस्व तौ सम्प्रति तं वरेण्ये
तदीयकालः समुपस्थितोऽद्य ।
नैवं यदि त्वं प्रविधास्यसि द्राक्
कालः पिबेत्तद्रसमेव नूनम् ।। 14 ।।

रामस्य वर्षाणि चतुर्दश त्वं
वनेऽधिवासं, भरतस्य चापि ।

बोली उससे—हे महादेवि ! तव सौत पुत्र
का होने वाला है निश्चित राज्याभिषेक ।
जानकर इसे भी तुम विचारमूढा बनकर
किसलिए न करती हो उपाय जो अभिप्रेत ॥ १० ॥

राज्याभिषेक जब होगा, राजा बनें राम
क्या दशा तुम्हारी या कि भरत की होगी तब ।
इसलिए, उपाय करो कुछ सहसा महादेवि !
अवसर न हाथ से जाय, करो न देरी अब ॥ ११ ॥

जब लगी आग हो, भवन जल रहा हो
उस समय कुँआ खोदना व्यर्थ होता, भद्रे !
यदि नहीं तुम्हारी बुद्धि कार्य कर सकती है
तो करो वही जैसा मैं कहती हूँ तुमसे ॥ १२ ॥

स्मरण तुम्हें हो किसी समय समरांगण में
असुरों के संग रण में प्राण हथेली पर लेकर ।
तुमने अपने पति के भी प्राण बचाये थे
तब दिये भूप ने दो वर अति प्रसन्न हो कर ॥ १३ ॥

इस समय सुमुखि ! मांगो अपने वे दोनों वर
आ गया आज उनको पाने का उचित समय ।
यदि नहीं व्यवस्था करती हो तो तुम यथाशीघ्र
तो कुछ न बन सके समय बीतते ही निश्चित ॥ १४ ॥

वनवास चतुर्दश वर्षों का बस राम हेतु
राजा से मांगो यही देवि ! पहले वर में ।

राज्येऽभिषेकं पतिमर्थयस्व
वरावुभौ पूर्वप्रतिश्रुतौ तौ। ।। 15 ।।

तथेति तां प्रत्यवदत्तनूजा
सा केकयानां प्रययौ पतिं च ।
वराविमौ देहि प्रतिश्रुतौ ता-
वित्यभ्यधात् तं च जरापरीतम् ।। 16 ।।

वराविमौ वज्रनिपाततुल्यौ
प्राणान्नृपस्याहरतां क्रमेण ।
रामोऽपि सम्पूरयितुं प्रतिज्ञां
पितुः प्रयातो विपिनं ससीतः ।। i7 ।।

सलक्ष्मणश्च व्यंनयत्स कालं
बम्भ्रम्यमाणो विपिनान्तरेषु ।
तत्रापि कष्टं नहि तं मुमोच
'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' ।। 18 ।।

आसीत्तदा शूर्पणखेति नाम्नी
स्वसा दशास्यस्य सुदुर्दशेव ।
जिह्वेत्यभिख्येन विवाहिता या
ऽसुरेण लङ्कापुरमध्युवास ।। 19 ।।

गन्तव्यमासीद्विपिनं कदाचिद्
दशाननेनेति स आह जिह्वम् ।
रक्ष त्वमेव ह्यनुपस्थितौ मे
लङ्कापुरीं प्राणमिव स्वकीयम् ।। 20 ।।

राज्याभिषेक हो भरतलाल का, मांगो तुम
उन महाराज से मिले हुए दूसरे वर में ॥ १५ ॥

'ऐसा ही होगा' कहकर केकयराजसुता
तत्काल गयी वह महाराज दशरथ समीप।
उन वृद्ध भूप से बोली—मुझे दीजिए अब
वे दोनों वर जो दिये कभी मुझको महीप ! ॥१६ ॥

वे दोनों वर थे वज्रनिपात सदृश ऐसे
जिससे दशरथ का अकस्मात् हो गया निधन।
पालन करने के लिए पिता की आज्ञा का
श्रीराम साथ सीता को लेकर गये विपिन ॥ १७ ॥

लक्ष्मण को लेकर साथ फिरे वे वन-वन में
इस भांति उन्होंने समय बिताया जहां-तहां।
फिर भी न कष्ट ने छोड़ा उनका साथ कभी
हैं छिद्रान्वेषी जहां, होते बहुत अनर्थ वहां ॥ १८ ॥

आ गयी तभी राक्षसी शूर्पणखा नामक
जो थी रावण की बहन दुर्दशा के समान।
जिह्व के साथ ही ब्याह हुआ उसका
उसी राक्षस संग करती लंका में निवास ॥ १९ ॥

तदनन्तर वन में जाते समय कभी रावण
बोला उस जिह्व राक्षस से—हे जिह्व सुनो !
मेरी अनुपस्थिति में इस लंका नगरी की
रक्षा अपने प्राणों के समान तब तुम्हीं करो' ॥ २० ॥

तथास्त्विति प्रत्यशृणोद्दशास्यं
जिह्वो ररक्षावहितः पुरीञ्च ।
नक्तन्दिवं सोऽयमतन्द्रितः सन्
कार्ये स्वके दत्तमना बभूव ।। 21 ।।

न सप्त रात्रीरशयिष्ट जिह्वो
निद्रां विजेष्येऽहमिति प्रणुन्नः ।
तदाऽवहेलाप्रतिशोधभावा-
दिवैनमाक्रान्तवती तु निद्रा ।। 22 ।।

लङ्कापुरीरक्षणमस्तु सुप्ते
कथं मयीति प्रतिपन्नचिन्तः ।
दीर्घीचकारासुर एष जिह्वां
तयाऽऽवृणोच्चापि समस्तलङ्काम् ।। 23 ।।

दुष्कर्मरेखा वितेतेव जिह्वा
तां पातयामास तमस्यनन्ते ।
अत्रान्तरे तामुपसेदिवान्नो
मार्गं प्रवेशाय दशास्य आप ।। 24 ।।

चिच्छेद जिह्वां तरसा तरस्वी
ततः स लङ्कामभिगन्तुकामः ।
छेदे च तस्याः पतितो बभूव
जिह्वो व्यसुस्तत्क्षणमेव भूमौ ।। 25 ।।

'ऐसा ही होगा', कहा जिह्व ने रावण से
आश्वासन के अनुसार पुरी की रक्षा की।
दिन-रात बिना विश्राम, बिना सोये उसने
निज कार्य हेतु निर्वाह किया उस प्रण का ही ॥ २१ ॥

सोया न सात रातों तक जिह्व किये था प्रण
इस समय क्योंकि जीतनी ही है मुझे निद्रा
तब अपमानित होकर तुरन्त प्रतिशोध हेतु
दिन में ही कर बैठी आक्रमण सहज निद्रा ॥ २२ ॥

सो जाने पर कैसे होगी लंका रक्षित ?
सोच कर इसी चिन्ता में वह था डूब गया।
फिर जिह्वा अपनी लम्बी कर उस दानव ने
सारी लंका को निमिषमात्र में घेर लिया ॥ २३ ॥

दुर्भाग्य-रेख खींचती रही जिह्वा तब तक
हो गया असीम अन्धेरा लंका मध्य वहीं।
इस बीच लौटकर आगा रावण नगरी में
पर, पुर प्रवेश के लिए पंथ पा सका नहीं ॥ २४ ॥

तत्काल काट दी जिह्वा रावण ने, वह तो
लंका प्रवेश के हेतु अत्यधिक था उत्सुक।
जिह्वा के कटते ही गिर पड़ा जिह्व सहसा
भू पर गिरते ही दिखा असुर तत्क्षण में ही मृत ॥ २५ ॥

ततोऽनु बुद्ध्वा सकलं यथावद्
वृत्तं पुलस्त्यस्य सुतोऽनुतेपे ।
शुचा परीतोऽन्तिमकृत्यजातं
चकार रक्षोविधिना च तस्य ।। 26 ।।

(विद्युन्मालावृत्तम्)

अज्ञानेनान्याय्यं भूयो
लोकः कुर्यात् कृत्यं लोके ।
पश्चात्तापो येनास्य स्याद्
दुःखं चित्ते प्रादुःष्याच्च[1] ।। 27 ।।

1. प्रादुः ष्यात् = प्रकटीभवेत्। उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः (8.3.37) इत्यनेन षत्वम्।

तदनन्तर सारी बात जानकर रावण भी
अत्यन्त शोक से तत्क्षण था विक्षिप्त हुआ।
अन्ततः राक्षसी विधि से उस जिह्वासुर का
अन्त्येष्टि कर्म रावण ने था संपन्न किया ॥ २६ ॥

प्रायः अज्ञानता वश करते अन्याय लोग
फिर किये हुए कर्मों पर होता उन्हें शोक।
उनके चित्त में व्यापता क्लेश जब
आजीवन पश्चात्ताप उन्हें होता (प्रतिदिन)। २७ ॥

षष्ठः सर्गः

(सीताहरणोपाख्यानं जटायुवधोपाख्यानं च)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

पत्यौ गते कर्मजितावनिं स्वां
स्वं जीवितं शून्यमिवाकलय्य ।
स्वकुम्भकाशाभिधपुत्रवक्त्र-
सन्दर्शनेच्छामिषतो न्यगादीत् ।।1।।

सहोदरं शूर्पणखा, दशास्य!
पत्युर्विहीना कथमत्र दीना ।
विनोदयेय स्वमिति प्रबुध्य
पुत्रं यियासामि निवस्तुमस्मिन् ।।2।।

पुत्रस्य सन्दर्शनमास्त नूनं
व्याजो मनस्यन्यदिवास्त तस्याः ।
सा पुंश्चली कामविकारजुष्टा
निजार्थमन्यं पतिमाचकाङ्क्ष ।।3।।

अन्वेष्टुकामा तमिमं प्रयाता
तदेव तावद्वनमास्त यत्र ।
रामः ससीतः सहलक्ष्मणश्च
कालं स्वकं यापयितुं प्रवृत्तः ।।4।।

षष्ठ सर्ग

(सीताहरणोपाख्यान तथा जटायुवधोपाख्यान)

अपने कर्मों से मृत पति की यह दशा देख
शूर्पणखा ने निज जीवन को शून्य समझ।
मुख कमल-दर्शन हित निज तनय
कुंभकाश के मिष से बोली वह इस प्रकार ॥ १ ॥

बन्धु दशानन ! किस विधि मैं
पति से विहीन दीन हीन यहां।
अपने मन को बहलाऊं, यह सोच बोली वह—
'पुत्र के पास रहने को मैं जा रही वहां ॥ २ ॥

सुत का दर्शन तो उसका मात्र बहाना था
मन में उसने कुछ और योजना दृढ़ कर ली।
काम विकारों से युक्ता पुंश्चली स्वयं
उसने अब अपने लिए अन्य पति की ही इच्छा की ॥ ३ ॥

उसके ही अन्वेषण हितार्थ निश्चय करके
शूर्पणखा पहुंची उस वन में ही शीघ्र जहां।
निज पत्नी सीता और लक्ष्मण के संग में
श्री राम व्यतीत कर रहे समय वहां ॥ ४ ॥

यदैव दृष्टौ रघुनन्दनोऽस्याः
पपात विद्धा ह्यभवत्तदैव ।
पञ्चेषुबाणैरसुराङ्गना सा
रामे न कस्याभिरमेत दृष्टिः ।।5।।

मायावशात्सा परिवर्त्य रूपं
विलोभनीयाकृतिमादधाना ।
सुराङ्गनानामपि लोभनीयं
रामं सकामाऽभिससार रामा ।।6।।

रामस्तु तस्यां रुचिमादधान्नो
सदैकपत्नीव्रतमादधानः ।
तच्चित्रमस्याः कृत आस्त नार्य-
शीलं विदू राक्षसनार्य आर्यम् ।।7।।

ततः समन्तादवलोकयन्ती
ददर्श सैकत्र विदेहपुत्रीम् ।
स्वस्मिंश्च तां सा विपरीतभावे
हेतुं विजज्ञे रघुनन्दनस्य ।।8।।

एषा नु यावद् ध्रियते न तावत्
रामानुकूल्यं मयि सम्भवि स्यात् ।
नैकत्र कोशेऽसियुगं सह स्या-
दित्येवमात्मन्यधि सम्प्रधार्य ।।9।।

सा राक्षसीरूपमभिप्रपन्ना
तां हन्तुमभ्यद्रवदात्तवेगा ।

जैसे ही रघुनन्दन उसको दिख पड़े वहां
वह कामदेव के बाणों से अनुविद्ध हुई ।
राम पर न उन बाणों का तनिक प्रभाव पड़ा
पर, असुरांगना पंच बाणों से विद्ध हुई ॥ ५ ॥

उसने सहसा मायावी रूप किया धारण
अत्यन्त विलोभनीय आकार बनाया था ।
वह रूप देवियों के हित भी था लोभनीय
राम को वासना का अभिसार बनाया था ॥ ६ ॥

राम तो एक पत्नी व्रतधारी रहे, अस्तु
उस शूर्पणखा में उनकी रुचि थी नहीं तनिक ।
यह देखि, राक्षसी को विस्मय भी हुआ क्योंकि
वह आर्य नारियों के न शील से थी परिचित ॥ ७ ॥

तदनन्तर चारों ओर देखती हुई सहज
उसने देखा विदेहपुत्री की ओर वहां ।
रघुनन्दन के विपरीत भाव का कारण भी
अपने प्रति, समझ गई सीता को तुरत यहां ॥ ८ ॥

सोचा उसने—जब तक यह नारी जीवित है
राम का मिलन संभव हो सकता कभी नहीं ।
दो-दो तलवारें एक म्यान में किसी भांति
चाहे जैसे हो, वे रह सकतीं कभी नहीं ॥ ९ ॥

राक्षसी रूप धारण करके वह शूर्पणखा
देवी सीता के वधार्थ दौड़ पड़ी सहसा ।

वात्यामिवाभ्यापतितां विलोक्य
तां लक्ष्मणः स्तम्भयितुं प्रवृत्तः ।।10।।

नारीत्यहिंस्येति स मन्यमान-
स्तां नो सुमित्रातनयोऽजिघांसत् ।
कर्णौ च नासां च चकर्त तस्याः
स केवलं तां निरभर्त्सयच्च ।।11।।

वैरूप्यमेवं प्रतिपादिता सो-
पैद् भ्रातरौ द्वौ खरदूषणाख्यौ ।
उपेत्य वृत्तं निजगाद चापि
तौ चापि योद्धुं समुपेयतुर्द्राक् ।।12।।

सलक्ष्मणं दाशरथिं वनान्ते
सैन्येन साकं महता निजेन ।
सहायहीनोऽपि सलक्ष्मणस्
तौ सम्प्रापयत्प्रेतपुरीं स वीरः ।।13।।

ततो ययौ शूर्पणखाऽतिखिन्ना
भ्रात्रन्तरं रावणनामधेयम् ।
तं चाह केनापि विरूपिताऽस्मि
तपस्विवेषेण वनान्तरेऽहम् ।।14।।

सीतेति नाम्न्यस्ति तदीयभार्या
रसायनं नेत्रयुगस्य लोके ।
धात्रा प्रयत्नेन कृता पृथिव्याम्
'एकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयेव' ।।15।।

उसको प्रभंजन के समान दौड़ते देख
तत्क्षण लक्ष्मण ने रोक लिया सहसा ॥ १० ॥

यह नारी है, इसलिए, न वध के योग्य कभी
यह सोच लक्ष्मण ने वध उसका नहीं किया।
उसकी नासिका और कानों को दिया कतर
केवल उसका इस भांति यही अपमान किया ॥ ११ ॥

हो कुरूपिणी शूर्पणखा तत्काल स्वयं
जा पहुंची खर-दूषण नामक बन्धु के पास।
सारी घटना का वर्णन उन्हें बताया जब
वे दोनों भी संग्राम हेतु चल पड़े साथ ॥ १२ ॥

जंगल में राम और लक्ष्मण से रण हित
शस्त्रास्त्र-सैन्य-दल लेकर दोनों आ पहुंचे।
असहाय राम लक्ष्मण द्वारा वध किये गये
वे मृत्यु प्राप्त कर रामपुर दोनों जा पहुंचे ॥ १३ ॥

तदनन्तर अतिखिन्ना शूर्पणखा गई तुरत
लंका में अपने भ्राता रावण के समीप।
उससे बोली—हे बन्धु ! की गयी मैं कुरूप
वन मध्य किसी संन्यासी द्वारा ही सटीक ॥ १४ ॥

उसकी है एक सुन्दरी पत्नी सीता, जो
त्रिभुवन में दिखती नेत्र-रसायन के स्वरूप।
वह ब्रह्मा के प्रयत्न द्वारा रचिता भू पर
लगता है ज्यों एकत्र हुआ लावण्य-रूप ॥ १५ ॥

इमां तवार्थं समुपानयन्त्या-
मुपायनं लक्ष्मण आपतन्माम् ।
कृत्वा विरूपामथ मां स मत्तो
मत्तोऽच्छिनत्तां जनकस्य पुत्रीम् ।। 16 ।।

स त्वं प्रयाहि त्वरयोपपन्नो
हरस्व चैनां कमनीयकान्तिम् ।
ममापमानं प्रतिशोध्य चैव
तद्रामरामारमणं विधेहि ।। 17 ।।

श्रुत्वा स सौन्दर्यकथाममुष्याः
स्वसुर्मुखात् कामशरानुविद्धः ।
सीतां निजाङ्कानुगतां विधातु-
मुपायसञ्चिन्तनतत्परोऽभूत् ।। 18 ।।

आहूय मारीचमुवाच कञ्चित्
स राक्षसं राक्षसजातिमुख्यः ।
मारीच हे! हेममृगो भव त्वं
प्रयाहि रामस्य कुटीरकं च ।। 19 ।।

मायाविनामग्रसरः स एवं
मारीचनामा विदधेऽसुराग्र्यः ।
संकूर्दमानः प्रकटीबभूव
कुटीरकाग्रे च रघूद्वहस्य ।। 20 ।।

असम्भवं हेममृगस्य जन्म
तथाऽपि सीता लुलुभे मृगाय ।

उसको लेकर जब चली तुम्हारे हेतु बन्धु !
उस उग्र लक्ष्मण ने मुझ पर आक्रमण किया ।
मुझको कुरूप कर तदनन्तर मुझसे उसने
उस जनकराज की पुत्री को भी छीन लिया ॥ १६ ॥

इसलिए, इसी क्षण जाओ तुम उस जंगल में
कमनीय कान्ति वाली सीता का हरण करो ।
प्रतिशोध यही है मेरे उस अपमान हेतु
फिर रामभद्र की आर्या संग आनन्द करो ॥ १७ ॥

रावण सीता की सुन्दरता का वर्णन सुन
अपनी भगिनी के मुख से, कामशरानुविद्ध ।
उसको अपने अंक लगाने को तत्पर
सोचा उपाय, जिससे हो जाये कार्यसिद्ध ॥ १८ ॥

बुलवा कर मारीच नाम के राक्षस को
उस समय राक्षस कुल का था जो प्रमुख दैत्य ।
बोला उससे—मारीच ! बनो तुम कंचन मृग
अब इसी समय जाओ तुम राम कुटीर मध्य ॥ १९ ॥

मायावी असुरों में वह सबसे आगे था
मारीच नाम के राक्षस ने था वही किया ।
रघुनन्दन की कुटिया के आगे मृग रूपी
कूदता हुआ वह राक्षस सहसा प्रकट हुआ ॥ २० ॥

सोने के मृग का जन्म असंभव है तथापि
उस मृग के लिए जानकी ललचा उठीं तुरत ।

प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ।।21।।

सा प्राह भर्त्तारममुं मदर्थं
विचित्ररूपं मृगमानयस्व ।
न चानुमेने सहसा च तत्स
मायाऽसुराणामिति बोधयंस्ताम् ।।22।।

भूयोऽपि तस्यां हठमाश्रयन्त्यां
तदीयवाञ्छापरिपूरणाय ।
मृगं ग्रहीतुं स जगाम धीरो
न च ग्रहीतुं तमभूत्स शक्तः ।।23।।

वनान्तरं दूरतरं गते स
तस्मिञ्शरं प्राणहरं मुमोच ।
येन प्रविद्धो मृग आर्त्तनादं
हा जानकीति प्रविनद्य नष्टः ।।24।।

श्रुत्वा तु तप्तायससन्निभं तं
सीता समुद्वेगमपारमाप ।
सम्प्रेषयामास च लक्ष्मणं सा
शीघ्रं तदीयाग्रजरक्षणाय ।।25।।

अत्रान्तरे तत्र समापतद् द्राक्
लङ्केश्वरः सन्धृतसाधुवेषः ।
सहायहीनां च जहार सीतां
लङ्कापुरीं तामनयच्च भीताम् ।।26।।

प्राय: आते ही विपत्काल, जो बुद्धिमान
हो जाती उनकी बुद्धि बड़ी ही सहज लुप्त ॥ २१ ॥

सीता बोलीं पति से—स्वामिन् ! यह कंचनमृग,
ले आओ मेरे लिए उसे जो है दिव्य रूप ।
अनुमोदन सहसा राम न कर, यों समझाए—
हे देवि ! यही असुरों का मायावी स्वरूप ॥ २२ ॥

पर बार-बार सीता के हठ के कारण ही
उनकी इच्छा पूरी करने के हेतु चले वे
धीर वीर वे गये उस मृग को सहज पकड़ने हित
पर उसे पकड़ने में समर्थ हो सके न वे ॥ २३ ॥

उसके पीछे-पीछे वे गये दूर तक विपिन मध्य
उस पर प्राणान्तक वाण उन्होंने छोड़ दिया ।
जिससे प्रविद्ध हो मृग करता आर्तनाद
चिल्लाया—'हा जानकी' ! और फिर नष्ट हुआ ॥ २४ ॥

वह आर्तनाद जो तप्त-लौह के सदृश रहा
सुन सीता असीमभय से कांप गईं ।
इसलिए, तुरत लक्ष्मण को भेजा देवी ने
भैया की रक्षा हित श्रीराम तईं ॥ २५ ॥

फिर, इसी बीच लंकेश्वर धर के साधुवेष
शीघ्रातिशीघ्र कुटिया-समीप आ गया वहां ।
असहाय पड़ी सीता का हरण किया उसने
भीता सीता को लाया लंकापुरी जहां ॥ २६ ॥

मध्येपथं तच्छ्वशुरस्य मित्रं
जटायुनामा किल गृध्रराजः ।
जरातुरः सन्नपि तं रुरोध
सर्वं तदाश्चर्यकरं बभूव ।। 27 ।।

तीक्ष्णेन तुण्डेन स पक्षिराजो
दशाननं तं बलवत्तुतोद ।
असिप्रहारा इव तत्प्रहारा-
स्तस्मायसह्याः सुतरामभूवन् ।। 28 ।।

यत्नं श्रयित्वाऽपि दशाननस्तं
दिशां विजेता न शशाक हन्तुम् ।
विकत्थनस्तं स तदा बभाषे
स्वं वीर्यमाख्यापयितुं जटायुः ।। 29 ।।

तवासिना वा विशिखेन वाऽहं
शस्त्रेण वाऽन्येन कथञ्चनापि ।
हन्तुं न लोकत्रितयेऽपि शक्य-
स्तथाविधा मे खलु शक्तिरस्ति ।। 30 ।।

माहेश्वरं केवलमङ्गुलीयं
सीताङ्गुलिप्रत्ययमादधानम् ।
शक्नोति मां हन्तुमतो वृथा ते
शस्त्राणि चास्त्राणि च मूढबुद्धे! ।। 31 ।

श्रुत्वादसीयं वचनं स्मयोक्तं
क्षणात्प्रसुप्तोत्थितवद्दशास्यः ।

मार्ग-मध्य था खड़ा जटायू गिद्धराज
सीता के श्वसुर नृपति दशरथ का मित्र रहा।
वह मार्ग रोककर खड़ा हुआ अचरज महान्
यद्यपि इस समय जटायू अतिशय वृद्ध रहा ॥ २७ ॥

निज तीक्ष्ण-चोंच से गृद्धाधिपति जटायू ने
जब लंकेश्वर पर अतिबल से आघात किया।
खड्ग-सदृश कठोर वह भीषण प्रहार
जो था असह्य-आघात उस समय विकट रहा ॥ २८ ॥

करके प्रयत्न भी रावण, जो दिग्विजयी था,
उस गृध्रराज का वध कर पाया नहीं वहाँ।
तब लंकेश्वर ने स्वयं प्रशंसा की उसकी
बोला 'ऐसा अपार बल उसे मिला कहाँ' ॥ २९ ॥

वह बोला—रावण ! इस असि से, तीव्र शस्त्र से भी
अथवा अन्यान्य खड्ग से कुछ हो सके नहीं।
मुझको है, प्राप्त अपरिमित बल ऐसा रावण !
त्रिभुवन में कोई शक्ति मुझे वध सके नहीं ॥ ३० ॥

महेश्वर की दी हुई अंगूठी ही केवल
जिसको सीता ने अंगुली में है पहन रखा।
वध उससे ही हो सकता मेरा मूढ बुद्धि !
अन्यान्य शस्त्र-अस्त्रादि यहां हैं सर्वथा वृथा ॥ ३१ ॥

तब गृध्रराज के वचन श्रवण कर रावण भी
क्षण भर जैसे सोया हो, उठकर बैठ गया।

सीताङ्गुलेर्द्रागपकृष्य धूर्त-
स्तदङ्गुलीयं प्रजहार तस्मिन् ।। 32 ।।

तदङ्गुलीयप्रहृतः स पक्षी
विदेहजास्त्रैः सममेव हन्त ।
प्राणान् प्रियान् स्वान् विमुमोच वीरो
लोकान्स्वपुण्यौघजितान् ययौ च ।। 33 ।।

अत्रान्तरे राघववीरमुख्यौ
कुटीरकं स्वं प्रति संनिवृत्तौ ।
सीतामदृष्ट्वा व्यथितान्तरङ्गौ
तन्मार्गणे स्वां मतिमादधाते ।। 34 ।।

आहिण्डमानौ विपिनान्तरेषु
तौ दृष्टवन्तौ किल गृध्रराजम् ।
हतेऽपि यस्मिन् न समत्यजद्यं
विशेषकार्यान्तरितो यदात्मा ।। 35 ।।

रामं दशास्येन शठेन तावद्
विदेहजाया हरणं स ऊचे ।
सीताङ्गुलीयं च समर्प्य तस्मै
कृती विशश्राम सुखं स आत्मा ।। 36 ।।

अन्त्येष्टिकृत्यं कृतिनो जटायो-
स्तस्यात्मनीनस्य विधातुमिच्छुः ।
मुमोच रामः शरमेकमारा-
च्चितां भृशं यो ज्वलयांबभूव ।। 37 ।।

खींच कर अंगूठी सीता की अंगुली से फिर
उसने तत्क्षण उस पर था घोर प्रहार किया ॥ ३२ ॥

उस अंगुलीय का जैसे ही आघात लगा
गिर पड़ा जटायू सीता के अश्रु के साथ।
तत्काल त्याग निज प्राणों को महावीर
अपने अर्जित पुण्यों से पहुंचा स्वर्गधाम ॥ ३३ ॥

इस बीच वीर राघव लक्ष्मण के साथ-साथ
अपनी पर्णकुटि में यथाशीघ्र वापस आये।
कुटिया में सीता को न देख, वे हुए व्यथित
उनके अन्वेषण हेतु तुरत ही उठ धाये ॥ ३४ ॥

खोजते हुए वे पहुंचे एक गहन वन में
उन दोनों ने देखा कि गृध्र था पड़ा वहां।
यद्यपि वह था मर चुका उस समय गृध्रराज
फिर भी उसकी अन्तरात्मा थी पड़ी वहां ॥ ३५ ॥

वह बोला रघुनन्दन से—नाथ ! दशानन ने
मिथिलेशकुमारी का इस वन में हरण किया।
पश्चात्-समर्पित कर सीता की अंगुलीय
सुख से उस आत्मा ने तत्क्षण विश्राम किया ॥ ३६ ॥

अन्त्येष्टि क्रिया उसकी करने के इच्छुक वे
श्रीरामभद्र ने उसको अपना प्रिय समझा।
तत्काल चलाया बाण स्वयं निज तरकस से
बन गयी चिता, तब अग्नि ज्वाल वहां उठी सहसा ॥ ३७ ॥

शरेण चान्येन स गृध्रदेह-
मारोपयामास शनैश्चितायाम् ।
दग्धे च देहे स शरेण ताव-
दन्येन वह्निं शमयाम्बभूव ।।38।।

एवं विनिष्पाद्य विचित्ररूप-
मन्त्येष्टिकृत्यं विहगोत्तमस्य ।
दशास्यसम्मार्गणसम्प्रयुक्तः
स दक्षिणाशां प्रति सम्प्रतस्थे ।।39।।

(पुष्पिताग्रावृत्तम्)

कथमपि जनकात्मजाविहीनः
समयमयापयदात्मनि प्रलीनः ।
अविरतगमनाच्छ्रमं प्रपन्नो
दशरथवंशधरो भृशं विपन्नः ।।40।।

दूसरा बाण फिर मारा जिससे गृध्रदेह
धीरे-धीरे उस चिता-मध्य थी बैठ गई।
जब देह हो गयी भस्म तभी दूसरा बाण
चलते ही सहज चिताग्नि शीघ्र ही शान्त हुई ॥ ३८ ॥

इस भांति विचित्र रूप से थी सम्पन्न हुई
उस विहगराज की वह अन्त्येष्टि क्रिया जैसे।
रघुनन्दन तुरत दशानन को खोजते हुए
चल पड़े उस समय दक्षिण दिशा हेतु वैसे ॥ ३९ ॥

सीता वियोग में दुःखी राम
थे समय बिताते आत्मलीन।
चलते-चलते थक गये अधिक
दशरथ सुत वे अति दीन-हीन ॥ ४० ॥

सप्तमः सर्गः

(हनुमत्सम्पर्कोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

मध्येपथं वृक्षतले क्वचित् स
श्रमापनोदाय निषण्ण आसीत् ।
अवीजयत्तं पवनोऽतिमन्द-
स्तत्र स्थितं सेवकवच्छ्रमेण ।।1।।

वातेन मन्देन स वीज्यमानो
जगाम निद्रां व्यथितो हृदाऽपि ।
निद्रा मता शान्तिकरी जगत्यां
कष्टश्रितानामपि देहभाजाम् ।।2।।

अत्रान्तरे दीर्घवपुः कुतश्चित्
समापतत्तत्र कपिप्रवीरः ।
अदृष्टपूर्वौ युवकौ वनान्ते
स विस्मितोऽभूत् सुतरां च दृष्ट्वा ।।3।।

सौमित्रिरत्रावसरे बभूव
स्थितोऽग्रजं स्वं समयाऽसिहस्तः ।
नैवोर्ध्वदृष्टिः स बभूव यस्मात्
नालोकयामास कपिं स तस्मात् ।।4।।

सप्तम सर्ग

(हनुमत्सम्पर्कोपाख्यान)

अपने परिभ्रमण के क्रम में तरुतले एक
विश्राम हेतु श्रीरामभद्र बैठे आकर ।
तब तक अतिमन्द पवन झलता पंखा श्रम से
दिखता सेवक की भांति मनोज्ञ वहां आकर ॥ १ ॥

शीतल-सुमन्द वायु से झले पंखे से वे
थे व्यथित-हृदय फिर भी निद्रा में हुए मग्न ।
संसार मध्य निद्रा कहलाती शान्तिकरी
जो भी शरीरधारी रहते हैं कष्ट लग्न ॥ २ ॥

इस बीच कहीं से दीर्घ देह अत्यन्त बली
कोई वानर वीरवर आ गया वहां ।
उस वन में दो अदृष्टपूर्व युवकों को लख
उसे हुआ उस समय महान् आश्चर्य वहां ॥ ३ ॥

सुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी इस अवसर पर
अग्रज की सेवा हेतु खड़े थे असि लेकर ।
कपि को न देख पाये वे, उस काल वहाँ
क्योंकि उस क्षण दृष्टि न थी उनकी ऊपर ॥ ४ ॥

तद्दृष्टिमात्मन्यपकर्ष्टुमेष
शाखामृगोऽधूनयदत्र शाखाम् ।
वृक्षस्य यस्याध उपास्त निद्रां
रामो जगन्नेत्रयुगाभिरामः ।।5।।

तं धूनयन्तं समवेक्ष्य शाखा-
मतर्जयल्लक्ष्मण आत्तरोषः ।
नासौ च तस्माद्विरतो बभूव
शाखां दुधावैव मुहुर्मुहुश्च ।।6।।

दण्ड्योऽयमित्यात्तमनाः कुमारः
श्रीलक्ष्मणः कार्मुकमाददे स्वम् ।
शरं तथोग्रं च निहन्तुकामः
शाखामृगं चापलसम्प्रयुक्तम् ।।7।।

उभावपि द्राक् प्रहसन्निवाप-
निन्ये करात्तस्य सुविस्मितस्य ।
आरूढवांश्चैव पुनः स शाखां
शाखामृगस्तां धवितुं प्रवृत्तः ।।8।।

एवं गते लक्ष्मण आत्तलज्जो
निजाग्रजं जागरयाम्बभूव ।
निवेदयामास च सर्ववृत्तं
खर्वीकृतस्वाखिलवीर्यगर्वः ।।9।।

श्रुत्वादसीयं वचनं विचित्रं
रामः क्षणाद् ऊर्ध्वमवालुलोके ।

आकर्षित करने हेतु ध्यान उन दोनों का
कपिवर भी रहा हिलाता शाखा सहज वहां।
वे जगन्नेत्र युग के अभिराम राम भी तो
जिस तरु के नीचे रहे नींद में मग्न जहाँ ॥ ५ ॥

इस भांति डाल को अधिक हिलाते देख उसे
क्रोधातुर हो लक्ष्मण ने धमकाया कई बार।
पर, वह कपि उससे विरत न हो पाया किञ्चित्
फिर रहा हिलाता डाली को ही लगातार ॥ ६ ॥

"यह दण्ड-योग्य है" यही सोच करके कुमार
लक्ष्मण ने अपना धनुष-बाण था उठा लिया।
अत्यन्त तीक्ष्ण शर से उस शाखामृग का ही
जो चपल अधिक था, वध करने को ठान लिया ॥ ७ ॥

हंसते-हंसते उस कपि ने उनका धनुष्र-बाण
छीनकर हाथ से उनको विस्मित बना दिया।
तदनन्तर चढ़ कर डाली पर वह बैठ गया
शाखा को पुनः हिलाना भी प्रारंभ किया ॥ ८ ॥

यह देख लक्ष्मण अतिशय लज्जित हुए तथा
निज ज्येष्ठ बन्धु को सहसा तुरत जगाया था।
जिस भांति हुआ निज गर्व वीर्यबल नष्ट वहां
सारा वृत्तान्त विनय के साथ बताया था ॥ ९ ॥

लक्ष्मण के द्वारा सुनकर अचरज भरे वचन
श्रीरामभद्र ने उसी समय देखा ऊपर।

शाखामृगं चापि ददर्श तत्रा-
भिजज्ञिवांस्तस्य च लक्षणानि ।। 10 ।।

ज्ञातानि विज्ञाय निजानि शाखा-
मृगः समस्तानि तु लक्षणानि ।
विवेद वृक्षस्य तले निषण्णं
ज्ञनं स नारायणमेव साक्षात् ।। 11 ।।

ततः स वृक्षादवतीर्य सद्य-
स्तत्पादपद्मश्रयणाभिकाङ्क्षः ।
विनीतवत्तस्य पुरः स्थितोऽभूत्
तं चाब्रवीत्स्वं च समर्प्य तस्मै ।। 12 ।।

अद्यप्रभृत्यस्मि तवाङ्ग दासो
नाम्ना हनूमान् पवनस्य पुत्रः ।
त्वद्दर्शनाप्यायितमानसं मां
त्वमाज्ञया तुष्टतमं विधेहि ।। 13 ।।

वाचं तदीयाममृतायमानां
निपीय तं दाशरथिर्बभाषे ।
भार्या हृता मे दशकण्ठनाम्ना-
ऽसुराऽधमेनात्र विधेहि साह्यम् ।। 14 ।।

ओमित्युवाचाथ कपिप्रवीरः
सुग्रीवपार्श्वे प्रणिनाय तं च ।
मित्रत्वमापद्यत येन तस्य
समं निवासेन वनेऽत्र पूर्वम् ।। 15 ।।

पहचान गये उसके लक्षण जो परम दिव्य
जैसे ही देखा कपि को बैठा शाखा पर ॥ १० ॥

शाखामृग ने भी अपने सकल लक्षणों को
जान उन्हें मन ही मन सब कुछ समझ लिया।
इस तरु के नीचे सोया है जो जन साक्षात्
वह निःसंशय नारायण हैं, यह जान लिया ॥ ११ ॥

तत्काल उतरकर उसी समय उस तरु से वह
जागी इच्छा उन चरण कमल के आश्रय की।
इसलिए, विनीत की भांति सामने खड़ा हुआ
हो गया समर्पित उनसे सहज विनय भी की ॥ १२ ॥

हे नाथ ! आज से हुआ तुम्हारा अंगदास
हनुमान् नाम है मेरा, मैं हूं पवन-पुत्र।
दर्शन पाकर कृतकृत्य हुआ मेरा मानस
आपकी आज्ञा पालन ही है मेरा मुख्य सूत्र ॥ १३ ॥

उसके विनीत अमृत से भरे वचन को वे
रघुनन्दन पीकर उससे बोले इस प्रकार।
मेरी पत्नी का रावण ने अपहरण किया
तुम बनो सहायक इसमें जैसे, जिस प्रकार ॥ १४ ॥

तदनन्तर 'ऐसा ही होगा' कपिवर बोला—
सुग्रीव समीप उन्हें वह ले कर गया वहां।
वन में पहले से ही निवास के कारण ही
उन दोनों में मित्रता हो गई सहज वहां ॥ १५ ॥

सम्बन्ध आभाषणपूर्वकोऽभूद्
रामस्य सुग्रीवकपेश्च तत्र ।
मैत्री च सम्बन्धवशात्प्रजाता
प्रगाढतां या क्रमशः प्रयाता ।। 16 ।।

मैत्र्या तया दाशरथिर्जघान
सुग्रीवशत्रुं किल वालिसञ्ज्ञम् ।
सीतापुनःप्राप्तिकृते च साह्यं
सुग्रीवराजः प्रतिजज्ञ एनम् ।। 17 ।।

वालीतिनामास्य बभूव शक्ति-
शालीति लोकत्रितये प्रसिद्धः ।
भ्राताऽग्रजो वानरयूथमुख्यो
येनास्य जातः प्रबलो विरोधः ।। 18 ।।

(स्वागतावृत्तम्)

पूर्ववृत्तमभवत्खलु तावत्
कारणं प्रबलमत्र विरोधे ।
तादृगेव घटतेऽत्र जगत्यां
नैव चिन्तयति कोऽपि तु यादृक् ।। 19 ।।

जब हुई परस्पर बातचीत-संबंध हुआ
भगवान् राम में और कपि सुग्रीव में वहां।
संबंध-विशेषों से मैत्री बढ़ गई तथा
जिसमें क्रमशः प्रागढ़ता आती गयी वहाँ ॥ १६ ॥

उस मैत्री के कारण श्री रामभद्र ने भी
सुग्रीव-शत्रु वाली की हत्या की।
सीता को पुनः प्राप्त करने के लिए तभी
सुग्रीव राज ने उस क्षण सुदृढ़ प्रतिज्ञा की ॥ १७ ॥

वाली भी रहा बलवान् शक्तिशाली अतीव
वह त्रिभुवन में उस समय अधिक विख्यात हुआ।
वह ज्येष्ठ बन्धु वानर समूह का था प्रधान
सुग्रीवराज का उससे प्रबल विरोध हुआ ॥ १८ ॥

होती अतीत की घटनाएं जो, वही सहज
कारण भी प्रबल विरोध का बन रही यहां।
घटनाएं घटती रहीं जगत् में उसी भांति
पर, इसे न कोई सोच रहा इस भांति यहां ॥ १९ ॥

अष्टमः सर्गः

(दरभ्यु (थोरप्यु)पाख्यानं
वालिवधोपाख्यानं
लङ्कादहनोपाख्यानं च)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

आसीत्पुरा राक्षसजातिजातः
कैलासवासी किल नन्दकालः ।
द्वारेषु कैलासगिरेः स आसी-
देकस्य रक्षार्थमभिप्रयुक्तः ।।1।।

स एकदोद्यानगतां शिवस्य
दृष्ट्वोपपत्नीं सुतरां विमुग्धः ।[1]
विधातुमात्माभिमुखीमकस्मात्
पुष्पेण तां सम्प्रजहार कामी ।।2।।

तदीयधाष्ट्र्येन विकम्पिता सा
प्रभुं प्रपेदे तरसेश्वरं द्राक् ।
स चापि शापं विससर्ज तस्मै
न वृत्तभङ्गोऽस्य बभूव सह्यः ।।3।।

स तेन जज्ञे दरभाभिधानो
विशालरूपो महिषः क्षणेन ।

1. प्रभोः शिवस्य नानोपपत्न्य आसन्निति थाइरामायणम्। तास्वन्यतमां विलोक्य नन्दकालो मोहमापत्।

अष्टम सर्ग

(दरभ्युपाख्यान, वालिवधोपाख्यान तथा लंकादहनापाख्यान)

प्राचीन काल में किसी समय राक्षसकुल में
था नन्दकाल दानव जिसका था वास कैलास ।
कैलास शिखर के द्वारों में ही एक द्वार
पर वह नियुक्त था भली-भाँति रक्षा हितार्थ ॥ १ ॥

वह, एक बार उद्यान मध्य शिव-उपपत्नी
को देख शीघ्र ही उन पर सहज विमुग्ध हुआ ।
फिर उन्हें आत्माभिमुखी करने को उसने
पुष्पों द्वारा था आक्रमण तत्काल किया ॥ २ ॥

कम्पिता हुई देवी उसकी धृष्टता देख
शीघ्र ही गयीं वह महामहेश्वर के समीप ।
सुनते ही सारा वृत्त उसे दे दिया शाप
थी सह्य नहीं उन्हें वृत्त के भंग की एक लीक ॥ ३ ॥

शापित हो वह उत्पन्न हुआ क्षण भर में ही
जो दरभ नाम का महिष रूप था अति विशाल ।
अपने सुत का मुख-दर्शन करते ही उसका
शाप ही बनेगा उस दानव का अन्तकाल ॥ ४ ॥

तनूजवक्त्राम्बुजदर्शनान्तो
बभूव शापो दनुजस्य तस्य ।।4।।

हनिष्यतेऽसौ तनुजेन तेने-
त्येवं प्रभुस्तत्र विधिं वितेने ।
हेतोर्यतोऽसौ खलु जातमात्रान्
सुताननेकान् निजघान दैत्यः ।।5।।

सुदुःखितास्तेन समा[1] बभूवुः
समा महिष्यः सुतहिंसयाऽत्र ।
आगामिपुत्रस्य च रक्षणार्थ-
मिमा मनः स्वं द्रढयाम्बभूवुः ।।6।।

अथैकदा गर्भवती प्रजाता
तस्माद्दनूजान्महिषी यदैका ।
तद्दर्शनं सा परिहर्तुकामा
वनस्य कस्यापि गुहां विवेश ।।7।।

कालेन साऽसोष्ट सुतं दृढाङ्गं
तं चाह तत्तातनृशंसकृत्यम् ।
विसृज्य तत्रैव च तं कथञ्चिद्
दीना गुहातो बहिराजगाम ।।8।।

कालेन पुत्रो दरभीतिनामा
ऽज्ञातः पितुः काननमाससाद ।
स्मरन्स्वमातुर्वचनस्य चापि
नियोधनायाह्वयत स्वतातम् ।।9।।

1. वर्षाणीत्यर्थः। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग (2.3.5) इत्यनेन द्वितीया।

अपने ही सुत के द्वारा उसका होगा वध
यह सोच दरभ ने उसी प्रकार उपाय किया ।
इसलिए, पुत्रों के पैदा होते निःसंशय
उस दानव ने उन सबका वध तत्काल किया ॥ ५ ॥

सन्तप्त हो रही वर्षों से सारी महिषियाँ
दानव द्वारा निज पुत्रों की हिंसाएं निहार ।
आगामी सुत की रक्षा हेतु महिषियों ने
अपने मन में सहसा निश्चय कर लिया जोर ॥ ६ ॥

फिर एक बार महिषी कोई गर्भिणी हुई
जिसने दृढ़ निश्चय से था ऐसा काम किया ।
उस दानव के दर्शन से बचने के हितार्थ
वन मध्य कन्दरा में तत्काल प्रवेश किया ॥ ७ ॥

कुछ समय अनन्तर उसने सुत को दिया जन्म
पति के नृशंस कृत्यों को बतलाया उससे ।
आ गयी गुहा के बाहर दीना महिषी वह
छोड़कर वहीं किसी भाँति माँ सहज उसे ॥ ८ ॥

कालान्तर में दरभी नामक अज्ञात पुत्र
आ गया पिता के कानन में वह ज्यों ही ।
माँ के वचनों का करते हुए स्मरण तब
रण हेतु पिता को उसने ललकारा त्यों ही ॥ ९ ॥

नियोधने तं विनिहत्य चापि
　　स शूरमानीश्वरमाससाद ।
नियोधनायाह्वत तं च दर्पान्
　　मत्ताः प्रमत्ताः किमु वा न कुर्युः ।। 10 ।।

तमीश्वरो वालिनमाह गन्तुं
　　यतो वधोऽभूत्सुविनिश्चितोऽस्य ।
स वालिनं प्रेक्ष्य नियोधनाय
　　स्वशक्तिगर्वान्धितयाह्वत द्राक् ।। 11 ।।

आह्वानमस्यातितराममृष्य-
　　न्नमर्षणस्तेन बलान्न्ययुद्ध ।
वाली न तं चाप्यशकद्विजेतुं
　　न तं च स प्रार्थितशत्रुलुब्धः ।। 12 ।।

वाली ततस्तं महिषं जगाद
　　योद्धुं परेद्युर्गिरिकन्दरायाम् ।
ओमित्युवाचाथ च तं स वीर!
　　यथाभिलाषस्तव तत्तथाऽस्तु ।। 13 ।।

सुग्रीवसञ्ज्ञं समुवाच वाली
　　गुहामुखे स्थातुमथानुजं सः ।
द्रष्टुं प्रवाहं रुधिरस्य चापि
　　तेनानुमातुं विजयाजयौ च ।। 14 ।।

वीक्षेत रक्तं यदि कृष्णवर्णं
　　स मन्यतां यन्महिषो हतोऽस्ति ।

फिर द्वन्द्व-युद्ध में वधकर उसको शूरवीर
वह मानी शिवजी के समीप पहुंचा ऐसा।
था अहंकार उसको, ललकारा शिवजी को युद्ध हेतु
मदमत्त करे क्या नहीं करे यों ही सहसा ॥ १० ॥

शिव बोले उससे-'जाओ वाली के समीप
उसके ही हाथों क्योंकि तुम्हारा वध निश्चित।
वाली को देख चुनौती दी रण हेतु क्योंकि
निज शक्ति गर्व से अन्धा वह हो रहा अधिक ॥ ११ ॥

गम्भीर चुनौती सुनकर जब वह सह न सका
इसलिए, क्रोध में जाकर उससे युद्ध किया।
पर, वाली उससे जीत न पाया महाबली
शत्रु-चुनौती को कभी न अस्वीकार किया ॥ १२ ॥

तब बोला दरभी से—'हे महिषराज !
कल होगा युद्ध परस्पर गिरिकन्दरा मध्य।'
'ठीक है', कहा उसने वाली से 'महावीर !
जैसी इच्छा आपकी, वही हो यहाँ सत्य ॥ १३ ॥

वाली ने बन्धु सुग्रीव से कहा—सुनो,
हे बन्धु ! गुहा-द्वार पर ही तुम रहना।
रक्त-प्रवाह देखना होगा वहां तुम्हें
उससे अनुमान लगाना विजय-पराजय का ॥ १४ ॥

दिख पड़े कहीं यदि रक्त वहाँ पर कृष्ण वर्ण
तो सहज समझ लेना कि महिष वध किया गया।

तदन्यथात्वेऽनुमिनोत्वसौ यद्
भ्राताऽस्य वाली निहतो युधीति ।। 15 ।।

एवं प्रबोध्यानुजमेष योद्धुं
गुहां परेद्युः प्रविवेश वाली ।
तिष्ठंस्तदीये वचनेऽनुजश्च
गुहामुखे दत्तमुखः स्थितोऽभूत् ।। 16 ।।

कालो व्यतीयाय यदा तु कश्चिद्
घोरं प्रवृत्तस्य नियोधनस्य ।
तदा प्रवृत्तो घनघोरवर्षी
देवो वने वर्षितुमात्तवेगः ।। 17 ।।

अत्रान्तरेऽभून्निहतो नियुद्धे
श्रीवालिनाऽसौ महिषो दुरात्मा ।
प्रवाहिता यस्य बभूव कायाद्
रक्तस्य धाराऽगुरुनिम्नगेव ।। 18 ।।

सम्मिश्रणाद् वृष्टिजलस्य तस्यां
कृष्णत्वमालक्ष्यत नैव तस्याः ।
भ्रान्तिं गतो यद्वशतोऽग्रजो मे
हतोऽस्ति सुग्रीव इति प्रपेदे ।। 19 ।।

ततो गुहातो बहिरागमस्य
कर्तुं निरोधं महिषस्य तावत् ।
गुहामुखं सोऽपिहितं व्यधत्त
निरन्तरं तत्र शिलोच्चयेन ।। 20 ।।

यदि लाल रंग का रक्त तुम्हें दिख पड़े वहाँ
तो यही समझना बंधु वाली ही वधा गया ॥ १५ ॥

भाई को समझा इस भाँति युद्ध के लिए
अगले दिवस वाली ने गुहा-प्रवेश किया।
सुग्रीव बन्धु-वचनानुसार था रुका वहीं
कन्दरा द्वार की ओर निरन्तर ध्यान किया ॥ १६ ॥

उस समय भिड़े थे द्वन्द्व-युद्ध में वे दोनों
इस भाँति वहाँ कुछ समय सहज ही बीत गया।
तब तक तो होने लगी घोर वर्षा सहसा
उस वन में वर्षा का प्रवेश उस समय बढ़ा ॥ १७ ॥

इस बीच परस्पर द्वन्द्व-युद्ध में वधा गया
श्री वाली के हाथों वह महिष दुष्टात्मा भी।
उसके शरीर से हुई प्रवाहित रक्तधार
लगती थी जैसे अगरु नदी की धारा हो ॥ १८ ॥

वर्षा के जल में मिल जाने के कारण ही
रक्त-कालिमा का आभास न हो पाया।
भ्रम में पड़ गया वालि-अनुज इस कारण से
हो गया बन्धु का वध, वह यही समझ पाया ॥ १९ ॥

इसलिए, गुहा के बाहर आने वाले का
उस महिषराज का मार्ग रोकना ठीक यहाँ।
ऐसा विचार कर गुहा-द्वार को बन्द किया
लाकर के शिलाखण्ड रखता ही रहा वहाँ ॥ २० ॥

प्रत्यर्थिनं स्वं विनिहत्य यावद्
गुहामुखान्निष्क्रमणाय वाली ।
उपैति तत्तावदसावपश्यत्
प्रपूरितं दीर्घशिलोच्चयेन ।। 21 ।।

प्रयत्नमास्थाय तदा महान्तं
वाली शिलौघं स पृथक् चकार ।
आगन्तुमीशश्च यथाकथञ्चिद्
बहिर्गुहातः स बभूव वीरः ।। 22 ।।

सुग्रीव एनं ननु कस्य हेतो-
र्गुहामुखे स्थापितवान् शिलौघम् ।
इत्येव सञ्चिन्तनतत्परस्य
बुद्धिभ्रमः प्रादुरभूदनिष्टः ।। 23 ।।

स्यान्नाम राज्ये मम गृध्नुरेष
मन्मृत्युमाकाङ्क्षति मेऽनुजोऽपि ।
अहं गुहायां विलयं प्रयाया-
मित्येव चेतस्यभिसन्धिरस्य ।। 24 ।।

अहो! दुरात्माऽयमतीव पापी
यो भ्रातुरेवेच्छति नाम मृत्युम् ।
विचिन्तयन्नेवमसौ बभूव
क्रोधानलोद्दीप्तमना मनस्वी ।। 25 ।।

उपेयिवांश्च स्वकराजधानीं
सुग्रीवमस्याः स बहिश्चकार ।

तब तक अपने प्रत्यर्थी का वध करके वह
वाली चाहता गुहा-मुख के बाहर आना।
कर पहुंच द्वार पर उसकी दृष्टि पड़ी बाहर
तब पाया लगा था दीर्घ शिलाओं का ढकना॥ २१ ॥

तब महत्प्रयास किया वाली ने किसी भाँति
उस शिलापुंज को उठा, द्वार से पृथक् किया।
जैसे-तैसे निष्क्रमण हेतु अभिलाषा से
वह वीर गुहा के बाहर सहसा निकल गया॥ २२ ॥

सोचा—सुग्रीव भला किस कारण शिलापुंज
स्थापित करके गया इसे कन्दरा-द्वार।
ऐसे चिन्तन में तत्पर होते ही उसकी
मति भ्रमित हुई, जागे अनिष्टमय दुर्विचार॥ २३ ॥

लगता है इसकी दृष्टि राज्य पर लगी हुई
चाहता हमारी मृत्यु हमारा बन्धु स्वयम्।
मर जाय कन्दरा मध्य वाली निःसंशय वह
ऐसा ही मन में निश्चय करता रहा स्वयम्॥ २४ ॥

यह है दुरात्मा तथा घोर पातकी कि जो
अपने भाई की मृत्यु चाहता पापी यह।
इस भाँति सोचते हुए वाली हो गया तुरत
क्रोधानल के कारण उद्दीप्त, मनस्वी वह॥ २५ ॥

तदनन्तर वह आ गया राजधानी अपनी
उसने आकर सुग्रीवराज को भगा दिया।

नैवाशृणोत्तस्य वचश्च रोषाद्
बुद्धिभ्रमस्तस्य दृढो बभूव ।।26।।

पृथक्कृतोऽसौ सुतरां निरागाः
सुग्रीव आसीन्मनसाऽतिरुग्णः ।
विनाऽपराधं नहि कस्य चेतो-
ऽवमानना दुःखभरं तनोति ।।27।।

क्रोधात्स सम्प्रार्तथत स्वकस्य
भ्रातुर्वधं राघववीरमुख्यम् ।
सम्पादनं तस्य च सोऽचिरेण
तं राघवः प्रत्यशृणोच्छरण्यः ।।28।।

नियोधने वालिनमाह्वयस्वे-
त्येवं स सुग्रीवमुवाच वीरः ।
तथा चकारापि च तद्गिराऽसौ
वाली नियोद्धुं च समाजगाम ।।29।।

वृत्ते नियुद्धे च ककुत्स्थवंश्यः
शरेण वृक्षान्तरितो जघान ।
सुग्रीवराजाग्रजमुग्रबुद्धिं
राज्ये च सुग्रीवमथाभ्यषिञ्चत् ।।30।।

साहाय्यमस्य प्रतिशुश्रुवान्स
विदेहजायाः पुनराप्तिहेतोः ।
सुग्रीवराजः प्रथमोपकार-
कृतज्ञतामात्मनि सन्दधानः ।।31।।

वह कुपित हृदय था, सुनी न उसकी एक बात
बुद्धि-भ्रम ने उसको ऐसा दृढ़ बना दिया ॥ २६ ॥

'त्रुटि हुई न, फिर भी मुझे राज्य से पृथक् किया'
सुग्रीव सोचकर यही दुःखित हो उठा सहज।
अपराध बिना यदि होती अवमानना कभी
है कौन? न जिसके मन में दुःख भरता सहज ॥ २७ ॥

उसको भी आया क्रोध निवेदन किया तभी
रघुवीर राम से, भाई के वध हेतु स्वयम्।
शीघ्रातिशीघ्र सम्पादन हो इसका निश्चित
राघव ने उसको शरण-दान है दिया स्वयम्। २८ ॥

तब रामभद्र सुग्रीवराज से बोल पड़े—
'ललकारो जाकर द्वन्द्व हेतु वाली को तुम।
था किया राम के कहने से वैसा उसने
वाली से करने द्वन्द्व युद्ध वह चला आये ॥ २९ ॥

उनका हो रहा परस्पर जब तक द्वन्द्व-युद्ध
राम ने आड़ ले तरु की वाली को मार दिया।
वध किया वाली का, उग्रबुद्धि जो था, फिर तो
सुग्रीव का राम ने सिंहासनाभिषेक किया ॥ ३० ॥

सुग्रीवराज ने सीता जी की खोज हेतु
राम-सहायता के लिए मन में ठान लिया।
जो किया राम ने पहले ही उपकार उसे
उसने भी उसी कृतज्ञता का ध्यान किया ॥ ३१ ॥

पुत्रीकृतो वालिसुतोऽङ्गदोऽपि
साह्याय सम्प्रैर्यत तेन वीरः ।
अन्येऽपि ये नीलफदादयस्ते
सम्प्रेरितास्तेन सहायतायै ।। 32 ।।

सर्वा चमूस्तस्य विशालरूपा
सुग्रीवराजस्य समुद्रगेव ।
लङ्कापुरीं जेतुमुपात्तभावा
समुद्रतीरं समभिप्रपन्ना ।। 33 ।।

ततोऽनु विद्वान् हनुमाञ्जगाम
लङ्कापुरीं तत्र ददर्श चापि ।
सीतामभिज्ञानमुपानयन्सो-
ऽङ्गुलीयकं दाशरथिप्रदत्तम् ।। 34 ।।

निवर्तमानश्च ततः स लङ्कां
दग्धात्स्वपुच्छाद्दनुजैर्नृशंसैः ।
ददाह हाहाकृतमास्त येन
स्वाहाकृतञ्चापि समस्तपुर्याम् ।। 35 ।।

(द्रुतविलम्बितवृत्तम्)

तदनु दाशरथिं समुपेयिवान्
सकलवृत्तमुवाच कपिर्बुधः ।
स च सहायवृतोऽभवदुद्यतो
दशमुखाक्रमणाय विवेकवान् ।। 36 ।।

वाली-सुत अंगद को भी निज पुत्र मान
उसको सुनियोजित किया राम के कार्य हेतु ।
साथ में नीलफद आदि कर दिये गये कई
उसने भेजा सब को उसके साह्य हेतु ॥ ३२ ॥

सुग्रीवराज की सारी सेना अति विशाल
सरिता-प्रवाह के ही समान चल पड़ी वहाँ ।
लंका पर विजय प्राप्त करने का भाव लिये
सारी सेना जा पहुँजी सागर-तीर जहाँ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर ज्ञानी हनुमान चल पड़े शीघ्र
जाकर देखी लंका नगरी वहाँ स्वयम् ।
जो भेजी थी अंगूठी रामभद्र ने उन्हें
पहचान हेतु सीता को दिखला दी वहाँ स्वयम् ॥ ३४ ॥

लौटते समय लंका नगरी से हनुमत् की
पूछ में राक्षसों ने आग लगायी थी ।
कपि ने उससे नगरी को तुरत जलाया था
था हाहाकार मचा, विपदा घिर आयी थी ॥ ३५ ॥

लौटकर हनुमान ने श्रीराम को
था निवेदित कर दिया वृत्तान्त सब ।
वे सहायक से घिरे, निश्चय किया
दुष्ट रावण पर, आक्रमण हेतु तब ॥ ३६ ॥

नवमः सर्गः

(रावणस्वप्नोपाख्यानं रामशिबिरे
गुप्तचरसम्प्रेषणोपाख्यानं च)

(मन्दाक्रान्तावृत्तम्)

लङ्कां यद्यप्यदहदखिलां वायुपुत्रस्तरस्वी
नैतच्चिन्तामणुमपि मनस्यातनोद् गर्वितस्य ।
पौलस्त्यस्य प्रथितयशसो लोकलोकैकजेतु-
र्धीरा आपद्यपि निपतिता नैव मुञ्चन्ति धैर्यम् ।।1।।

अल्पेनैवासुरपुरपतिः कालखण्डेन लङ्कां
तेने दीप्रां पुनरिति परं विस्मयं तद्वितेने ।
संस्कारोऽस्यै मुहुरपि ददे काम्यकान्तिं प्रभूतां
येनात्यर्थं कनकवदियं तप्तवर्णा बभासे ।।2।।

लङ्का यस्मादभवदधिकं पूर्वतोऽपि प्रदीप्रा
पूर्णा भोगै रुचिरतरकैर्देवलोकेऽपि काम्यैः ।
तेनात्यर्थं सुखमनुभवन् रावणस्तां शशास
देवैर्यक्षैरुरगपतिभिः पूज्यमानोऽसुरैश्च ।।3।।

सेयं शान्तिर्नहि चिरमवातिष्ठतामुष्य चित्ते
किञ्चिन्नैव स्थिरमिह जगत्यस्ति सञ्चारशीले ।

नवम सर्ग

(रावणस्वप्नोपाख्यान और रामशिबिरे में गुप्तचरसम्प्रेषणोपाख्यान)

यद्यपि हनुमान जला बैठे लंका सारी
फिर भी रावण के मन में चिन्ता हुई नहीं।
वह दिग्विजयी, विख्यात यशस्वी धैर्यवान्
सच है, विपत्ति में धीर, धैर्य त्यागते नहीं ॥ १ ॥

फिर, स्वल्पकाल में दानवपति ने लंका को
कर दिया अलंकृत, यही देखकर विस्मित सब।
आकर्षक लगी अधिक जब पुनरुद्धार हुआ
जिससे वह दिखती तप्त स्वर्ण-सी अब ॥ २ ॥

लंका पहले से अधिक मनोहर दिखी यथा
सम्पूर्ण भोग से रुचिर स्वर्ग सुख समन्विता।
आनन्दपूर्वक राज्य वहाँ करता रावण
सुर-असुर-नागपति यज्ञों से सम्पूज्य तथा ॥ ३ ॥

वह शान्ति न उसके मन में स्थिर रह पायी
संचरणशील इस जग में कुछ स्थिर न रहा।
फिर, एक रात सुख से सोया, देखा सपना
जिससे उसके चित्त की वृत्ति में भेद हुआ ॥ ४ ॥

सुप्तो रात्रावयमतिसुखी स्वप्नमेकं ददर्श
कस्याञ्चिद्योऽजनयदभितोऽस्यान्यथावृत्ति चेतः ।।4।।

तस्मिन्स्वप्नेऽतितुमुलतया युध्यमानौ ददर्श
श्येनावेकोऽभवदिह ययोः कृष्णवर्णस्तथा च ।
आसीदेकोऽतिधवलरुचिर्येन कृष्णो हतोऽभूत्
प्रत्यग्दिग्भागत उपगतः पूर्वकाष्ठागतेन ।।5।।

तत्पश्चात्स स्वककरगते कोटरे नारिकेले
तैलासेकं विदधतमहो स्वं ददर्शातिमुग्धः ।
वर्तिं तस्मिन् निदधतमसौ स्वं यदा पश्यति द्राग्
योषा तत्रापतति सहसाऽदृष्टपूर्वा कुतश्चित् ।।6 ।।

वर्तिं सा प्रज्वलयति तदा येन तत् कोटरं द्राग्
दग्धं वह्निः करतलमनु प्राविशच्चापि तस्य ।
सर्वः कायस्तदनु सुतरामन्वभूद्वह्निदाहं
तस्मिन्काले झटिति शयनादुत्थितोऽभूद्दनूजः ।।7 ।।

स्वप्नद्वय्या क्रकचयुगलाभिख्यतामादधत्या
शङ्काजालैः प्रबलतरकैर्दीर्यमाणान्तरङ्गः ।
स्वप्नव्याख्यां स निजमनुजं पृष्टवान् बुद्धिमन्तं
ब्रूहि भ्रातः फलमिह शुभं वाऽशुभं स्वप्नयोर्मे ।।8 ।।

तं सम्प्रोचे नयविनयमानग्रजं स्वप्नशास्त्र-
धुर्यो भ्रातः! शृणु फलमिह प्रोच्यमानं मयाऽत्र ।
स्वप्नावेतौ सुभृशमशुभौ कष्टसंसूचकौ ते
दुख्यच्चेताः कथमपि तयोर्वच्म्यनिष्टं फलं ते ।।9।।

उस सपने में उसने घनघोर युद्ध देखा
लड़ रहे जहाँ दो श्येन, एक का रंग श्याम ।
दूसरा श्वेत था, पूर्व दिशा से आया था
वध कर दिया उसने श्येन का पश्चिम से जो आया था ॥ ५ ॥

अचरज से देखा नारिकेल के कोटर में
भर रहा तेल वह स्वयं, देखकर मुग्ध हुआ ।
उसमें वर्तिका रखी तो देखा तुरत एक
आयी थी युवती कोई अदृष्टपूर्वा वहाँ ॥ ६ ॥

फिर युवती ने वर्तिका जला दी, कोटर वह
जल उठा, हथेली में रावण के बढ़ी आग ।
जब आग बढ़ चली राक्षस की कायामध्य तुरत
बस, उसी समय रावण भी सहसा गया जाग ॥ ७ ॥

उन दो सपनों से मन उसका शंकालु बना
मानो दो आरों से विंध कर होता हतप्रभ ।
पूछी उनकी व्याख्या निज अनुज विभीषण से—
'हे बन्धु ! बताओ, स्वप्न अशुभ हैं अथवा शुभ ॥ ८ ॥

वह स्वप्न शास्त्र का ज्ञाता भाई से बोला—
'हे बन्धु ! सुनो, है महा अशुभ सपनों का फल ।
वे दोनों सपने हैं विपत्ति के सूचक ही
बतलाता हूं खेदपूर्वक अशुभ सपनों का फल ॥ ९ ॥

कृष्णः श्येनस्त्वमसि धवलश्चास्ति रामोऽभिरामो
हिंसा कार्ष्णी धवलविहिता तेऽन्तसंसूचिकाऽस्ति ।
लङ्कापुर्या विगणय विभो नारिकेलं प्रतीकं
तत्तैलं ते कुलमविकलं वह्निसाद्यद् भवेन्नु ।। 10 ।।

योषा स्वप्ने नयनविषयं या गता ते बभूव
दीपं यावज्ज्वलयति पुरा कोटरं नारिकेलम् ।
सा नौ भ्रातः सकलकलहद्वारभूता स्वसैव
वह्निज्वाला ऽति कुटिलधिया दीपिता भोस्तयैव ।। 11 ।।

ज्वाला भ्रातर्निजकरतलं याऽनुभूता दहन्ती
सैषा साध्वी जनकतनया त्वद्विनाशैकहेतुः ।
तां त्वं शान्त्या दशरथसुतं द्राग् विनिर्यातयस्व
रक्षाथो च प्रियमिह कुलं राक्षसानां समस्तम् ।। 12 ।।

इत्थङ्कारं वचनरचनां संविरच्यात्मनीने
तूष्णीम्भूते दनुजकुलजे स्वेऽनुजे क्रोधताम्रः ।
पौलस्त्यस्तं परुषवचनैभर्त्सयामास तीव्रं
रज्जुच्छेदे घटमिव नु को धारयेत् सद्वचोऽज्ञः? ।। 13 ।।

निर्यात्या मे जनकतनयेत्येवमात्थात्र यत्त्वं
तत्ते नूनं कलुषहृदयं स्पष्टमाविष्करोति ।
भ्राता मे त्वं कथमिव नु मे राघवान्नाशमात्थ
लङ्कायां त्वं निवससि परं शत्रुपक्षे स्थितोऽसि ।। 14 ।।

शक्तिं न्यूनां गणयसि कथं राघवान्मे विजेतु-
र्दिक्पालानां सकलभुवनस्पृह्यकीर्तेर्विमूढ ।

वह कृष्णवर्ण का श्येन स्वयं तुम, धवल वर्ण
अभिराम राम हैं, वध उसका कि तुम्हारा वध।
यह लंकापुरी नारियल का प्रतीक समझो
तेल तुम्हारा कुल है, जो होगा भस्म सहज ॥ १० ॥

वह युवती दीप जलाती जो देखी तुमने
वह बहन हमारी संघर्षों का जो कारण।
कुटिल बुद्धि, मन उसका सकल कलह संभृत
वह अग्नि ज्वाल भी प्रकट हुई उसके कारण ॥ ११ ॥

वह लपट हथेली जिससे जली तुम्हारी थी
सीता हैं, जो तव सर्वनाथ का कारण अब।
इसलिए, उन्हें अतिशीघ्र राम को लौटा दो
सारे राक्षस कुल की रक्षा तुम कर लो अब ॥ १२ ॥

इस भाँति सद्वचन कर शान्त विभीषण, था
अति शुद्ध हृदय, रावण को उस पर हुआ क्रोध।
अत्यन्त परुष वचनों से तीव्र भर्त्सना की
टूटी रस्सी से कौन थामता-घट, अबोध ॥ १३ ॥

'क्या कहा ? कि सीता को लौटा दूं ? इससे ही
इस समय तुम्हारा कलुष हृदय स्पष्ट हुआ।
भाई होकर, कह रहे राम से मेरा वध
लंका में रहकर रिपु का तुमने पक्ष लिया ॥ १४ ॥

दिक्पाल-त्रिलोक विजेता, जिसकी व्याप्त कीर्ति
उस रावण को कह रहा राम से न्यून मूढ !

क्वाहं वीरो जगति विदितो राक्षसानामधीशो
राज्याद् भ्रष्टो वनमधिवसन् राघवो वा पुनः क्व ।। 15 ।।

तं तादृक्षं मशकमिव भोः स्वेच्छयैवोपपन्नं
निष्पीड्याऽहं करतलगतं हेलयैव प्रसन्नः ।
मामाक्रान्तुं कृतपरिकरं स्वस्य मृत्युं यथैव
रामं रामाविरहजरुजं प्रापयिष्याम्यनन्ताम् ।। 16 ।।

नाम्नैवास्से दनुजकुलजो भीषणस्त्वं विशेषाद्
यत्सत्यं मे विगतमिव ते भीषणत्वं विभाति ।
यस्त्वं रामं दशरथसुतं वन्यवेषं ब्रवीषि
मृत्युं मे भोस्त्रिभुवनजयस्फीतबाहुद्वयस्य ।। 17 ।।

वस्तुं सत्यं मयि न सुतरामर्हसि त्वं विमूढो
निर्गच्छेतस्स्वयमहमुत त्वामह शत्रुपक्ष्यम् ।
लङ्कापुर्याः पृथगनुचरैः सावमानं करोमि
स्वाङ्गं चेत्स्याद् वपुषि गलितं तद् बहिष्कार्यमेव ।। 18 ।।

श्रुत्वा भ्रातुः परुषवचनं सर्वथाऽशान्तचित्तः
स्वप्नव्याख्याविधिविधिवशात्प्राप्तभूयोपमानः ।
याप्ये रोगे भिषगिव रुजाक्रान्तकायं नरं स
सन्त्यज्यायादवमतिशिखिज्वालया दह्यमानः ।। 19 ।।

रामञ्चाऽऽयात्सपदि शरणं तं शरण्यं विपश्चित्
तं चाप्याख्यत्कृतचरमभूद्यद्दशास्येन तस्मिन् ।
भक्तिप्रह्वश्चरणकमले राघवस्य प्रणम्य
स्वं स्वीकर्तुं प्रभुमयमहो! प्रार्थयामास धीरः ।। 20 ।।

दानवपति वीर जगद्विख्यात कहाँ रावण
राज्यच्युत-वनवासी वह राघव कहाँ मूढ ॥ १५ ॥

स्वेच्छा से करतलगत मशक तुल्य
वह निश्चय ही बिना प्रयास नष्ट होगा।
मुझ पर आक्रमण करे तो उसकी मृत्यु नियत
पत्नी-वियोग के दुःख का अनुभव भी होगा ॥ १६ ॥

तुम दानवकुलोत्पन्न 'विभीषण' नाम मात्र
पर, लगता, तेरा नष्ट हुआ वह भीषणत्व।
तू पड़ा वन्यवेषी राघव के चक्कर में
मुझ दिग्वजयी की सहज मृत्यु कह रहा, अस्तु ॥ १७ ॥

वस्तुतः शत्रुपक्षी तू निकल यहाँ से अब
तेरा लंका में रहना मूढ ! दिखे अनुचित।
अन्यथा अनुचरों से होगा अपमानित तू
जो अंग गलित हो उसका है काटना उचित ॥ १८ ॥

बन्धु के परुष वचनों को सुनकर अति अशान्त
स्वप्न की व्याख्या करने से अति अपमानित।
वह परमशान्त था निकल गया, वैद्य भी यथा
तज देता है असाध्य रोगी को, समझ उचित ॥ १९ ॥

तब गया राम के पास, शरण मांगी उसने
रावण द्वारा अपमान-वृत्त भी बता दिया।
राघव के चरण कमल में श्रद्धानत हो
'हे प्रभो' करो स्वीकार प्रार्थना यही कहा ॥ २० ॥

मृदु-हृदय राम ने सब सुनकर स्वीकार किया
जो शत्रुपक्ष से था, फिर भी, प्रेम से उसे।

वृत्तं श्रुत्वाऽतिमृदुहृदयो राघवः स्वीचकार
शत्रोः पक्षादुपगतमपि प्रेमभावात्तमाशु ।
तत्पश्चात्तौ परमसुहृदौ प्रत्ययं धारयन्ता-
वन्योन्यस्मिन् कमपि समयं निन्यतुः स्वं सुखेन ।। 21 ।।

रामं भ्रातुः परिगतवतो राक्षसानामधीश-
स्यासीत् पूर्वं कपिवरभटैः संस्तवोऽदृष्टपूर्वः ।
तत्र प्राप्तेः प्रथममभवत्तस्य चित्तं सचिन्तं
शक्त्या युक्ताः क्व दनुजभटा वानराः क्व श्लथाङ्गाः ।। 22 ।।

रामस्याप्तः शिबिरमनघस्तान्यदा सन्ददर्श
चित्रीयायाः परमुपगतः पारमासीत् स दैत्यः ।
शक्ताः किं स्युर्दनुजकुलजैर्योद्धुमेते कपीन्द्रा
इत्याशङ्कां निजमनसिजां सोऽथ सुग्रीवमाह ।। 23 ।।

सुग्रीवस्तांस्तदनु स कपीनादिशच्छक्तिमेनं
वीराः! सद्यो दनुजकुलजं दर्शयध्वं स्वकीयाम् ।
जानीयात्सोऽप्यविदितचरीं येन वः शक्तिमद्य
साक्षाद् दृष्टे भवति सुतरां प्रत्ययो नात्र शङ्का ।। 24 ।।

तच्छ्रुत्वा ते वचनममलं यूथमुख्यस्य दीप्ताः
शक्तेः स्वस्याः परिचयविधौ स्वं मनो दत्तवन्तः ।
वृक्षान् केचिद् विपुलतरकान्केचिदेवापि चाद्रीन्
मूलोच्छेदं करतलगताञ्चक्रिरे साहसेन ।। 25 ।।

अन्ये तावद् दृढतरधियः सूर्यमावव्रिरे द्राग्
जातं विश्वं प्रबलतमसाऽऽच्छादितं येन विश्वम् ।

तदनन्तर परम सुहृद् माना विश्वस्त किया
इस भांति बिताते रहे समय दोनों सुख से ॥ २१ ॥

जब गया राक्षसपति-भ्राता राम निकट
समझा कपि होंगे वीर क्योंकि देखा न उन्हें ।
वह लगा सोचने कहाँ अधिक बलवान् दनुज
पर कहाँ दीन-दुर्बल कपि हैं, देखकर उन्हें ॥ २२ ॥

राम के शिबिर में वानरगण को देख देख
उस समय विभीषण को अतीव आश्चर्य हुआ
क्या लड़ सकते वानर उन राक्षस वीरों से
अपने मन की आशंका को कपिपति से व्यक्त किया ॥ २३ ॥

आदेश दिया सुग्रीवराज ने कपियों को
'हे वीरों ! निज पौरुष दिखला दो दानव को ।
जिससे यह जाने आज हमारी शक्ति यहाँ
साक्षात्-देखकर शंका कब होगी किसको ॥ २४ ॥

कपिपति के सुनकर वचन शक्ति संपन्न वीर
सोचने लगे कि किस विधि परिचय दिखलायें ।
कुछ ने तरु लिये उखाड़ और कुछ पर्वत को
जड़ से उन्मूलित कर कर-तल पर वे ले आये ॥ २५ ॥

दूसरों ने दृढ़तापूर्वक सूर्य को ढका शीघ्र
जिससे सारा संसार अन्ध तामिस्र हुआ ।

केचिच्चाथो पवनमबलं तेनिरे स्वस्य वेगा-
दन्ये चाथो जलधिमतुलं शुष्कतां नीतवन्तः ।। 26 ।।

दृष्ट्वा दृश्यं तदखिलमभूद्विस्मयाविष्टचेता
हृष्यद्रोमा निजनयनयोर्विश्वसन्नो महात्मा ।
पौलस्त्यस्यावरज इति तं प्राह सुग्रीवराजं
भास्वद्वक्त्रं दशरथसुतेऽत्यन्तरक्तं कपीन्द्रम् ।। 27 ।।

शक्तिर्या ऽभूत् सपदि भवतां सैन्यसङ्घस्य दृष्टा
नातः पूर्वं कुहचन मयाऽऽलोकितेति ब्रवीमि ।
यत्सत्यं ते कपिवरभटा राक्षसैर्योद्धुमर्हा
एषां शक्त्या रघुवरजयं निश्चितं तर्कयामि ।। 28 ।।

योऽभूच्छब्दस्तरुगिरिशतव्रातसन्दारणोत्थो
व्याप्नोत्सोऽयं सकलभुवनं नादयन् दिग्दिगन्तान् ।
लङ्कापुर्यामपि गतवता राक्षसेन्द्रस्य तेन
स्पृष्टास्तावच्छ्रवणकुहरा[1] विस्मयाविष्टबुद्धेः ।। 29 ।।

कोऽयं शब्दः कुत इत इतः किङ्कृतो वा किमर्थं
वाऽयं लोके जनित इति स स्वाञ्जनानन्वयुङ्क्त ।
ते तं प्रोचुः कपिवरभटै राघवस्यैष चम्वा
शब्दो भीमो जनित इह यो विस्मयं नस्तनोति ।। 30 ।।

तच्छ्रुत्वाऽसौ रिपुकुलगतं वृत्तमिच्छन्निबोद्धुं
सर्वं सूक्ष्मं प्रणिधिमकरोच्छुक्रसाराख्यमेकम् ।
रक्षोवीरं च तमचकथद्रामभद्रस्य सैन्यं
यातुं द्रष्टुं विदधति भटा यत्तदर्थं प्रवृत्ताः ।। 31 ।।

1. दशास्यस्य तस्य नाना श्रवणकुहरा इति बहुवचनप्रयोगः ।

कुछ ने निजबल से वायुवेग को घटा दिया
औरों ने सागर के जल को था शुष्क किया ॥ २६ ॥

यह दृश्य देखकर विस्मित हुआ विभीषण था
रोमांचित था, विश्वास आँख पर नहीं हुआ ।
तदनन्तर दानववंशश्रेष्ठ ने, राम-भक्त
सुग्रीवराज कपिपति से था इस भाँति कहा ॥ २७ ॥

'जो शक्ति-प्रदर्शन किया आपके कपियों ने
इस भाँति अलौकिक शक्ति न मुझको दिखी कहीं है ।
सत्यत: कवीन्द्र लड़ सकेंगे राक्षसगण से
इस परम शक्ति से रघुवर विजय सुनिश्चित है ॥ २८ ॥

शत शत गिरि-तरु-उन्मूलन की ध्वनि से सहसा
हो उठा व्याप्त उस समय सकल जगदिग्दिगन्ता ।
लंका नगरी में पहुंचा होगा नाद सहज
सुनकर दानवपति अचरज में वह पड़ा तुरत ॥ २९ ॥

यह कैसा नाद, कहाँ से, किया गया क्योंकर
रावण ने पूछा अपने सभाजनों से जब ?
वे बोले राघव-दल के शूरवीर कपियों की
यह भीम-भयंकर ध्वनि है जिससे विस्मित सब ॥ ३० ॥

यह सुन, रिपुदल का भेद जानने हेतु उसने
गुप्तचर बनाकर शुक्रसार को भेज दिया ।
हे वीर ! रामदल में जाकर देखो तुरन्त
उनके सैनिकगण ने क्यों ऐसा नाद किया ॥ ३१ ॥

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

श्येनाकृतिं स्वां विरचय्य दूतो
रामस्य तावच्छिबिरं विवेश।
तत्प्राप्तमात्रश्च कपिर्बभूवा-
निरीक्ष्यमाणोऽन्यकपिप्रवेकैः ।।32।।

विभीषणस्याथ न सूक्ष्मदृष्टे-
र्दृष्टिं परीहर्तुमसौ शशाक।
कपिस्वरूपेऽपि तमभ्यजानात्
तं रावणस्य प्रणिधिं स विज्ञः ।।33।।

इदं हनूमन्तमुवाच चापि
स चाप्यभिज्ञातुमिमं ववाञ्छ।
तदर्थमात्मानमतस्ततान
वितानरूपं पवनस्य पुत्रः ।।34।।

समादिदेशाथ कपिप्रवीरान्
एकैकमेतुं स तदन्तराशु।
ततश्च निर्यातुमिमं विधिं सो
ऽभिज्ञातुमाधादिह शुक्रसारम् ।।35।।

एनं विधिं सैष समाश्रितः सन्
ददर्श सूक्ष्मेक्षिकयैकमेकम्।
कपिं कपीनां प्रवरो विवेकी
शत्रोः स्पशं मार्गयितुं प्रवृत्तः ।।36।।

श्येन रूप धर दूत तभी
राघव के शिबिर में कर गया प्रवेश।
आते ही वह कपि हुआ, किन्तु
दूसरे न समझे छद्मवेष ॥ ३२ ॥

अतिसूक्ष्म दृष्टि विभीषण की
उससे न दैत्य वह बच पाया।
वह समझ गया कपि रूप धरे
गुप्तचर रावण का है आया ॥ ३३ ॥

हनुमत् को सूचित किया यही
वह भी जानना चाहता इसे।
वायु के पुत्र ने एतदर्थ
निज को तम्बू सा तान लिये ॥ ३४ ॥

'आदेश दिया उसने कपि सेना को तुरन्त
उसमें प्रवेश के लिए तथा निष्क्रमण-हेतु।
क्रम से बाहर जाना है जिससे सहजतया
ऐसा उपाय था शुक्रसार-पहचान हेतु ॥ ३५ ॥

करके उपाय इस भाँति उस समय हनुमान्
देखा हर कपि को सूक्ष्म दष्टि से बार-बार।
इस भाँति खोजने लगा वहाँ कपिश्रेष्ठ उसे
जो रावण का गुप्तचर घुसा था शुक्रसार ॥ ३६ ॥

कपिस्वरूपेण विवेश धूर्तः
क्रमाद्यदा तत्र तु शुक्रसारः ।
निमेषहीनाक्षियुगेन जज्ञे
छायाविहीनत्ववशेन चापि ।। 37 ।।

दैत्यं कपिस्तं निगृहीतवांश्च
कशाभिघातं हतवान्दृढं च ।
चिह्नानि सर्वावयवेषु तस्य
कृत्वा व्यमुञ्चच्च विलज्जितं सः ।। 38 ।।

लङ्कानरेशं स समभ्युपेतो
न्यवीविदत्तं निजवृत्तजातम् ।
शौर्यं कपीनां तमबोधयच्च
वैलक्ष्यशल्यं हृदये दधानः ।। 39 ।।

मोघे प्रयत्ने प्रणिधेः प्रजाते
स्वयं दशास्यः कृतसाधुवेशः ।
रामस्य सेनामनुसम्प्रविष्टो
दुष्टाभिसन्धिर्मकरो यथाऽब्धिम् ।। 40 ।।

तपस्विवेषेऽपि विभीषणेना-
भिज्ञात आसीत्कपटी तथाऽपि ।
मन्त्रप्रभावेण गतः स तूष्णी-
म्भावं न वक्तुं प्रबभूव किञ्चित् ।। 41 ।।

रामः पुरस्तादवलोक्य साधुं
तं पूजयाञ्चक्र उवाच चापि ।

कपि के स्वरूप में धूर्त, गुप्तचर घुसा वहाँ
क्रम से पहचाना गया कि जब वह शुक्रसार।
इसलिए कि उसके नयन निमेषहीन लगते
छाया विहीन काया भी दिखती लगातार ॥ ३७ ॥

कपि ने उस दानव को तदनन्तर पकड़ लिया
पीटा कोड़े से उसने उसको बहुत वहाँ।
आघात चिन्ह सारे शरीर पर करके ही
उस लज्जित राक्षस को फिर छोड़ा गया वहाँ ॥ ३८ ॥

वह शुक्रसार तत्काल पहुंचा लंका में
रावण से उसने सारा निज वृत्तान्त कहा।
अपमान शल्य धारण करके निज हृदय मध्य
वानर-वीरों का शौर्य बोध स्पष्ट किया ॥ ३९ ॥

गुप्तचर-प्रयत्न से कार्य नहीं बन पाया जब
दशमुख ने स्वयं साधु का वेष बनाया था।
श्री रामभद्र की सेना मध्य प्रविष्ट हुआ
थी दुष्प्रवृत्ति, मकर ज्यों सिन्धु समाया था ॥ ४० ॥

यद्यपि कपटी रावण था साधुवेषधारी
फिर भी, उसे विभीषण ने पहचान लिया।
मान्त्रिक प्रभाव के कारण वह रह गया मौन
उस समय बोलने का उसने न प्रयास किया ॥ ४१ ॥

राम ने सामने देखा साधु-तपस्वी को
उस वेष मात्र से गदगद उनका हृदय हुआ।

वस्तुस्थितिं नो कलयाऽपि जानं-
स्तद्द्वेषमात्रेण हतान्तरङ्गः ।। 42 ।।

कुतो भवानत्र मदीयभाग्यात्
प्राप्तोऽस्ति सम्भावयितुं स्वयं माम् ।
तपस्विनां दर्शनमेव पुण्यं
तेषां गिरः पुण्यतरास्ततोऽपि ।। 43 ।।

सम्भावनां वर्धयितुं मदीया-
माख्यातु मां किङ्करणीयमस्ति ।
मया नियोगक्रिययोत्सुकेन
सेवा सतां सत्फलदायिनी स्यात् ।। 44 ।।

श्रुत्वादसीयं वचनं दशास्य-
श्छद्मस्वरूपस्तमुवाच वाचम् ।
काम्यं न मे किञ्चिदपीह लोके
परोपकाराय ममास्ति कायः ।। 45 ।।

श्रुतं मया यद्दशकन्धरं त्व-
माक्रान्तुकामः कपिसेनयाऽसि ।
सोऽयं न कामोऽस्ति तवाभिरामो
नाशोऽत्र ते स्यात्परिणाम एव ।। 46 ।।

त्वां राम तस्मात्परिबोधये मा
दशास्यवह्नौ शलभायितो भूः ।
त्रैलोक्यजेता क्व स राक्षसेन्द्रैः
परीवृतस्त्वं क्व च वानरैर्भोः ।। 47 ।।

जानते न थे वे वस्तुस्थिति फिर भी उसकी
पूजा करके उससे सहसा यह वचन कहा ॥ ४२ ॥

'आगमन कहाँ से हुआ आपका, अहोभाग्य
मेरा है जो कि मुझे आपने दिया मान !
है तपस्वियों के दर्शन से ही पुण्यलाभ
उनकी वाणी भी अधिक पुण्य का ही प्रमाण ॥ ४३ ॥

कहिए हे साधु ! आपकी सेवा के हितार्थ
कुछ करने की अभिलाषा मेरी अधिक प्रबल ।
मैं भी उत्सुक हो रहा कर रहा आस आज्ञा की
सन्तों की सेवा देती है सदैव सुफल ॥ ४४ ॥

सुनकर श्री रामभद्र के वचन दशानन भी
निज छद्मवेष में उनसे बोला वचन यही ।
'कामना न मेरी है कुछ भी संसार मध्य
मेरी काया है पर-उपकार हितार्थ सही ॥ ४५ ॥

मैंने ऐसा है सुना कि तुम कपि सेना ले
रावण पर करना चाह रहे आक्रमण सहज ।
यह कार्य तुम्हारा नहीं कभी सुखदायक है
इसका फल तो है नाश तुम्हारा यहाँ सहज ॥ ४६ ॥

इसलिए राम ! समझता हूं तुमको यो, मत
होना रावण की अग्निमध्य तुम शलभ वहाँ ।
त्रिभुवन विजयी है कहाँ दशानन दानवपति
कहां तुम वानर सेना से घिरे यहाँ ॥ ४७ ॥

दुःसाहसं त्वं त्यज याहि चापि
भ्रात्रा समं काननमेव भूयः ।
विवेकिनो नो सहसा क्रमन्ते
पथा ध्रुवं येन भवेद्विनाशः ।। 48 ।।

आकर्ण्य तस्याप्रियवाक्यजालं
तान्तान्तरङ्गोऽपि बहिः प्रशान्तः ।
काल्यं वचश्छद्मतपस्विनि द्राक्
प्रावर्तयद् दाशरथिर्महात्मा ।। 49 ।।

भार्या हृता मेऽधमराक्षसेन
ततोऽस्ति मे दण्ड्यतमो मतोऽयम् ।
वृत्तोऽहमस्मादभिषेणनेऽस्य
प्रयोजकोऽन्यो नहि मेऽत्र हेतुः ।। 50 ।।

चापद्वितीये मयि युध्यमाने
स्थातुं ममाग्रे न भवेदलं सः ।
एकैकशः कर्तयितास्मि तस्य
तीक्ष्णैर्दशास्यानि शरैरहं द्राक् ।। 51 ।।

किं वा बहूक्तेन मदीय एष
दृढोऽस्ति सङ्कल्प इति प्रजानन् ।
न मामतश्चालयितुं समर्थो
भवाञ्शिलौघं पवनो यथैव ।। 52 ।।

श्रुत्वादसीयं वचनं विषण्णो
लङ्कां दशास्यो न्यवृतद्विमूढः ।

इसलिए त्याग दो दुस्साहस, औ बन्धु साथ
फिर से वन में जाओ है केवल यही उचित ।
ज्ञानी जन जब भी करते इस भाँति कार्य
हो जाता है उनका विनाश तब सुनिश्चित ॥ ४८ ॥

उसके उस अप्रिय वाक्य जाल को सुनकर राम का
उद्विग्न हो उठा हृदय, किन्तु, वे शान्त सहज ।
उस छद्म तपस्वी से बोले समयानुसार
दशरथसुत श्री रामभद्र वे वचन सहज ॥ ४९ ॥

मेरी पत्नी का हरण किया दैत्याधम ने
इसलिए, कठोर दण्ड का पात्र यही निश्चय ।
इस कारण मैं आक्रमण करूंगा लंका पर
कोई न कदापि बदल पाये मेरा निश्चय ॥ ५० ॥

युद्ध में चाप ही होगा सखा हमारा जब
तब मेरे सम्मुख न ठहर पायेगा वह ।
अपने तीक्ष्ण शरों से दश सिर रावण के
एक-एक कर काटूँगा मैं । ५१ ॥

अथवा क्या लाभ अधिक कहने से यहाँ साधु !
ऐसा समझो यह मेरा दृढ़ संकल्प तथा ।
समझो, तुम मुझे न विचलित कर सकते ऐसे
विचलित कर पाता नहीं प्रभंजन शिला यथा ॥ ५२ ॥

इन वचनों को सुनकर रावण था अधिक खिन्न
चिन्तित मन मूढ़ तुरत लंका-प्रस्थान किया ।

सञ्चिन्तयामास च सोऽन्यमेवो-
पायं ततो रोद्धुमना अपायम् ।। 53 ।।

(मालिनीवृत्तम्)

यदि भवति विषादस्योदयो रामचित्ते
नहि कथमपि शक्तः स्यादयं सङ्गराय ।
इति धियमभिपन्नस्तत्परावर्तनार्थं
दशमुख इह गूढां युक्तिमेकां प्रपन्नः ।। 54 ।।

राम को हटाने के हितार्थ सोचता रहा
इसलिए, इस समय उसने अन्य उपाय किया ॥ ५३ ॥

होता है विषाद का उदय राम के चित्त में यदि
रण में समर्थ हो किसी भाँति होते न यहाँ ।
इस भाँति सोचकर उन्हें हटाने के हितार्थ
रावण ने गूढ़ युक्ति को निश्चित किया वहाँ ॥ ५४ ॥

दशमः सर्गः

(बेञ्जकय्युपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

आसीत्पुरा बेञ्जकयीतिनाम्नी
क्रूराकृती राक्षसकन्यकैका ।
सा रावणोक्ता विदधे स्वरूप-
मभिन्नरूपं जनकात्मजायाः ।।1।।

मृतामिव स्वं परिदर्शयन्ती
तस्याः प्रवाहे स्वमवाहयत्सा ।
नद्या वगाहं[1] व्यतनिष्ट यस्यां
श्रीरामभद्रोऽनुदिनं प्रभाते ।।2।।

मायावशेनैव तया स्वरूपं
धृतं मृताया जनकात्मजायाः ।
येनावगाहार्थमुपागतः स-
न्नालोक्य तां मुह्यतु रामभद्रः ।।3।।

नष्टा प्रिया मे किमु जीवितेन
कार्यं ममेति प्रतिपन्नबुद्धिः ।
खिन्नान्तरात्मा विरमेत्स युद्धात्
प्राणांस्त्यजेद्वा वनमाश्रयेद्वा ।।4।।

1. वष्टि भागुरिरल्लोपमित्यनेनावगाहस्थाने वगाहशब्दः प्रयुक्तः ।

दशम सर्ग

(बेझकप्युपाख्यान)

प्राचीनकाल में बेञ्जकयीनाम की एक
थी क्रूरस्वरूपा लंका में दानव कन्या।
रावण के कहने से उसने धर लिया रूप
लगती थी जैसे जनकराज की ही कन्या ॥ १ ॥

उसने सोचा निज को मृत सदृश दिखाती वह
सरिता-प्रवाह में बहती-सी दिख पड़े वहाँ।
जिसके तट पर प्रायः स्नान-ध्यान के हित
प्रतिदिन आया करते हैं वे श्रीराम जहाँ ॥ २ ॥

वह माया की शक्ति से धरेगी वही रूप
जिसमें वह दिखे सहज मृतवत् जानकी स्वयम्।
फिर, आयें जब राम वहाँ स्नान हेतु
होंगे मूर्छित सीता का शव देख भृशम् ॥ ३ ॥

होगा विश्वास—प्रिया, मेरी मर गई, अस्तु
मेरे जीवित रहने का है अब क्या आशय।
यह समझ सहज वे युद्ध विमुख होकर सहसा
प्राण ही तजेंगे या लेगें वन में आश्रय ॥ ४ ॥

इत्येव सञ्चिन्त्य सदा परेषां
प्रवञ्चनायां निपुणो दुरात्मा ।
दशाननो राक्षसकन्यकां तां
न्ययोजयत्कर्मणि तत्र घोरे ।।5।।

यथाऽनुमानं दनुजस्य तस्य
यदा ऽऽगतो दाशरथिर्विधातुम् ।
स्नानादिकं दैनिककृत्यजातं
तटे तटिन्याः समवालुलोके ।।6।।

मृतं शरीरं जनकात्मजाया
नदीप्रवाहेण समुह्यमानम् ।
तदा स संमोहमुपागतोऽभू-
दमुञ्चदश्रूणि च लुप्तधैर्यः ।।7।।

अन्वेषणायाथ चिरायमाणस्या-
र्यस्य सौमित्रिरुपागतस्तम् ।
दृष्ट्वा विषादाम्बुनिधौ निमग्नं
दुःखस्य कोटिं परमां जगाम ।।8।।

स्नानाय यातो न पुनर्निवृत्तः
श्रीराम इत्यस्तसमस्तकार्यौ ।
सम्प्रास्थिषातां शिबिरात्स्वकीयात्
सुग्रीवराजो हनुमांश्च वीरः ।।9।।

अन्वेषयन्तौ सुतरां सचिन्तौ
कूलङ्कषातीरमवापतुस्तौ ।

इस भाँति सोचकर सदा दूसरों को ठगने
में निपुण दुरात्मा लंकापति ने वही किया।
उस दानव कन्या को, इसलिए, तुरत उसने
उस पाप कर्म में था उसको सन्नद्ध ॥ ५ ॥

जैसा अनुमान किया रावण, ने, हुआ वही
जब आये प्रातः दशरथ सुत श्रीराम वहाँ।
स्नानादिक दैनिक कर्म आदि सम्पन्न हेतु
सरिता के तट पर देखा ऐसा दृश्य वहाँ ॥ ६ ॥

वह मृत शरीर उन जनकराज की कन्या का
सरिता-प्रवाह में वहाँ राम ने देखा जब।
उस समय हुआ संमोह अचेतन दिखे राम
आंखों से बहते अश्रु, धैर्य उनका विलुप्त ॥ ७ ॥

पश्चात्, लौटने में जब उनको हुई देर
खोजते हुए उन्हें तब लक्ष्मण आ गये वहाँ।
बन्धु को देख दुःख-सागर में निमग्न
लक्ष्मण को भी था हुआ क्लेश अत्यन्त वहाँ ॥ ८ ॥

श्रीराम गये स्नानादि हेतु लौटे न किन्तु
यह सोच, छोड़कर अन्य कार्यक्रम सहज वहीं।
अपने-अपने शिबिरों से निकले यथाशीघ्र
सुग्रीवराज, हनुमान् वीर चल पड़े वहीं ॥ ९ ॥

खोजते हुए वे दोनों चिन्ताकुल होकर
जा पहुंचे सरिता के तट पर शीघ्र जहाँ।

म्लानाननौ भ्रातृवरौ विलोक्य
दुःखं परं तावुपजग्मतुश्च ।। 10 ।।

विवेकशीलस्तु तयोर्हनूमान्
प्रत्यैन्न सीतामरणं कथञ्चित् ।
प्राणान्न जह्याज्जनकात्मजेति
दृढा मतिस्तस्य कपेर्बभूव ।। 11 ।।

कष्टं श्रिताऽपि स्वपते[1]र्वियुक्ता-
ऽप्येषा न जह्यात्पतिसङ्गमाशाम् ।
भूमेः सुता भूमिवदेव तस्या
धैर्यं भवेद्धैर्यधना मता सा ।। 12 ।।

न प्राकृतेव व्यवहारमेषा
समाश्रयेज्जातुचिदत्र लोके ।
न वृक्षशाखेव पतेत्प्रचण्डे
वायौ स्थिरा स्याद्गिरिशृङ्खलेव ।। 13 ।।

मायाविनामग्रसरा मदान्धाः
किं वाऽसुरा नैव विदध्युरेनः ।[2]
सीता प्रमीतेति[3] न सम्भवीति
दृढा मतिस्तत्र कपेर्बभूव ।। 14 ।।

मृतं शरीरं जनकात्मजाया
अन्यस्त्रिया वाऽसुरसम्भवायाः ।
एतत्परीक्षार्थमकालहीनं
चितां स सम्प्रज्वलयाम्बभूव ।। 15 ।।

1. पतिः समास एव (1.4.8.) इत्येनेन घिसञ्ज्ञायां गुणः । 2. एनः = पापम् । 3. प्रमीता = मृता

देखकर म्लान-मुख दोनों बन्धुवरों को वे
अत्यन्त दुःखी थे, पहुँचे उनके पास वहाँ ॥ १० ॥

उनमें हनुमान् विवेकशील सोचते रहे
सीता कैसे मर सकती हैं, न प्रतीति हुई।
वह जनकराज की कन्या प्राण न तज सकतीं
उस समय कपीश्वर की मति ऐसी सुदृढ़ हुई ॥ ११ ॥

कष्ट में पड़ीं वे, पति-वियोग भी हुआ उन्हें
फिर होगा पति से मिलन यही विश्वास उनका।
भूमि की सुता वे धरती माता के समान
हैं मनस्विनी, धैर्य सदा धन है उनका ॥ १२ ॥

साधारण जन की भाँति आचरण किसी भी प्रकार
कर सकती हैं विदेह कन्या लोक में नहीं।
तरु की शाखा की भाँति प्रचण्ड प्रभंजन में
पर्वत-शृंखला सुदृढ़ गिर पाती नहीं ॥ १३ ॥

मायावी में जो श्रेष्ठ तथा मद में अन्धा
वह कपटी दानव अथवा क्या कर सके नहीं।
सीता का मर जाना न कभी संभव होगा
कपि की धारणा और सुदृढ़ होती ही गई ॥ १४ ॥

यह मृत शरीर मिथिलेश कुमारी का अथवा
है अन्य किसी नारी का दानव-सम्भूता।
इसकी परीक्षा हेतु न तनिक विलम्ब किया
कपि ने तो तत्काल जला दी वहाँ चिता ॥ १५ ॥

चिक्षेप चास्यां स मृतं शरीरं
तस्यास्तरस्वी पवनस्य पुत्रः ।
क्रोशन्त्यतस्तत्क्षणमेव रक्षः-
कन्या विरूपा वियदुत्पपात ।। 16 ।।

तामुत्पतन्तीं बलवद् बलिष्ठो
धृत्वा स केशैर्भुवमाचकर्ष ।
आकृष्य तां तत्र समार्पिपच्च
श्रीरामचन्द्राय विदां वराय ।। 17 ।।

अत्रान्तरे तावदुपस्थितोऽभूद्
विभीषणोऽन्वेषणचेतसाऽत्र ।
निरीक्ष्य तां राक्षसकन्यकां च
प्रोचे स वाचं वदतां वरेण्यः ।। 18 ।।

ममाधमस्यास्ति सुतेयमार्य!
क्रूराकृतिर्बेञ्जकयीति नाम्नी ।
धृत्वा यया रूपमनिन्द्यरूपं
प्रवञ्चितस्त्वं जनकात्मजायाः ।। 19 ।।

नृशंसमस्या अतिनिन्दनीयं
कर्मेति तावद्धृदि सम्प्रधार्य ।
त्वां वच्म्यहं मित्रमिति प्रपन्नः
सुता ममेयं वधमर्हतीति ।। 20 ।।

एवं सखे! नैव भवेत्कदाचिद्
हन्यां कथं मित्रवरस्य कन्याम् ।

उस मृत शरीर को डाल दिया उसके ऊपर
उस समय तपस्वी पवनपुत्र ने वहाँ सहज।
तत्क्षण चिल्लाती हुई अग्निदग्धा कुरूप
वह राक्षस कन्या गगनमध्य उड़ चली तुरत ॥ १६ ॥

उस उड़ती हुई असुर कन्या के केश पकड़
बलवान् कपीश्वर ने धरती पर खींच लिया।
खींचकर उसे गंगनांगन से तत्क्षण
श्रीरामचन्द्र के समक्ष उपस्थित उसे किया ॥ १७ ॥

इस बीच विभीषण भी प्रभु को खोजता हुआ
श्रीरामभद्र के पास उपस्थित हुआ वहाँ।
उस राक्षस कन्या की पहचान करायी उसने
फिर उस सज्जन ने प्रभु से ऐसा वचन कहा ॥ १८ ॥

'हे आर्य ! सुता है यह मुझ पापी की
जो क्रूर आकृति बेञ्जकयी कि नाम जिसका।
छल किया धर कर अनिंद्य रूप
इस समय यहाँ पर इसने जनकदुलारी का ॥ १९ ॥

इसका यह कर्म नृशंस तथा अति निन्दनीय
ऐसा मैंने मन में विचार कर लिया सहज।
इसलिए, आपसे कहता हूं मैं मित्र समझ
वध के ही योग्य दिख रही मेरी सुता सहज ॥ २० ॥

हे सखे ! नहीं हो सकता है ऐसा कदापि
वध सुहृद् श्रेष्ठ की कन्या का होगा कैसे ?

यथा तवेयं हि तथा ममापि
क्षम्यो मयाऽस्याः प्रथमापराधः ।।21।।

उक्त्वैतदूर्जस्वि वचोऽभिरामं
श्रीरामभद्रो हनुमन्तमूचे ।
सम्प्रापयैनां बहुमानपूर्वं
लङ्कां, निवर्तस्व ततश्च शीघ्रम् ।।22।।

ओमित्युवाच प्रभुवाचमाच-
म्यासौ कपिप्राग्रहरो मनीषी ।
विनिर्ययौ तत्क्षणमेव रक्षः-
कन्यासहायश्च ययौ विहायः ।।23।।

(तोटकवृत्तम्)

अथ रामवचो हृदये निदधत्
कपिराशु स बेञ्जकयीमनयत् ।
पथि यानपरश्च बभूव दृढं
कुसुमेषुशरैरसमैः प्रहृतः ।।24।।

तरुणी कनकं कमलं कमला
नहि कस्य हरन्ति मनोहरिणम् ।
न विवेकिजनोऽपि निवर्तयितुं
प्रभवेदिममित्यमृषोद्यवचः ।।25।।

कुसुमायुधशक्तिरहो! अमिता
हनुमानपि यद्वशमाप कृती ।

अपराध प्रथम है इसका निश्चित क्षमा योग्य
कन्यका तुम्हारी है जैसे, मेरी वैसे ॥ २१ ॥

इस भाँति विभीषण से कहकर ऊर्जस्वि वचन
श्री रामभद्र बोले हनुमत् से यथाशीघ्र ।
हनुमान् इसे सम्मानपूर्वक ले जाकर
लंका नगरी में पहुंचाओ तुम इसे शीघ्र ॥ २२ ॥

सुनकर प्रभु वचन कहा कपि ने 'ऐसा ही होगा'
जो परम मनीषी कपियों में था श्रेष्ठ महा ।
तत्काल किया प्रस्थान साथ में राक्षस कन्या के
उड़ चला वह वीर गगन पथ से सहसा ॥ २३ ॥

राम के वचन उर में धर कर
बेञ्जकयी को ले चला साथ ।
पथ में ही कपि को उसी समय
काम के बाण का लगा घात ॥ २४ ॥

कमला, कामिनी, कमल, कंचन
किसका मन हरते यहाँ नहीं ।
सच है तरुणी-आकर्षण से
ज्ञानीजन भी बच सके नहीं ॥ २५ ॥

है कामदेव की शक्ति अमित
हनुमत् भी वश में हुए सहज ।

असुरीमपि स प्रणयं प्रबलः
समयाचत तत्सहितो रहसि ।। 26 ।।

अथ साऽपि शशाक विधातुमिमं
बलिनं प्रविलोक्य विलोक्यतमम् ।
स्वमनो न मनोजवशात्स्ववशे
मुदिता समरंस्त च तेन समम् ।। 27 ।।

यदि याति लता स्वयमेव तरुं
यदि याति नदी च तथा जलधिम् ।
नहि तत्र विचित्रमिति प्रकटं
प्रकृतिः पुरुषं स्वयमेति यतः ।। 28 ।।

प्रकृतेः पुरुषस्य च सङ्गमना-
दिहं सृष्टिरुदेति यतो जगति ।
असुरीकपिसङ्गमतोऽपि ततो
नवसृष्टिरभूत्प्रकटा विकटा ।। 29 ।।

(मालिनीवृत्तम्)

असुरफदसमाख्यं दानवी पुत्रमेकं
कपिरमणवशेनासोष्ट कालेन वीरम् ।
पवनसुतसुतोऽसौ दानवैः सार्धमन्यै-
र्दशवदनपुरे स्वं शैशवं संनिनाय ।। 30 ।।

अथ पवनतनूजः प्राप्तलङ्कापुरीको
दनुजवरतनूजासङ्गसम्प्राप्तसौख्यः ।
दशवदनपुरे तां सादरं रामवाक्याद्
व्यसृजदभिमतां द्राक् संनिवृत्तस्ततश्च ।। 31 ।।

एकान्त देख उस कन्या से
था प्रणय निवेदन किया तुरत ॥ २६ ॥

वह भी हनुमत् को बली देख,
सुन्दर काया पर थी मोहित।
मन हुआ काम के वश में जब
हनुमत् संग करती रमण मुदित ॥ २७ ॥

यदि जाय तरु-ढिग लता स्वयं
यदि सरिता सागर-पास चले।
इसमें कुछ भी विचित्र नहीं
कि प्रकृति पुरुष से स्वयं मिले ॥ २८ ॥

ज्यों प्रकृति-पुरुष के संगम से
जग में होता सृष्टि का उदय।
वैसे असुरी-कपि संगम से
नव विकट सृष्टि का जन्मोदय ॥ २९ ॥

कपि संग रमण से बेञ्जकयी ने दिया जन्म
सुत वीर असुरफद को जो परम प्रतापी था।
हनुमत्कुमार ने अन्य दानवों के संग ही
लंका में अपना शैशवकाल बिताया था ॥ ३० ॥

पवन तनय ने भी लंका नगरी में रहकर
दानव कन्या के साथ अमित सुख प्राप्त किया।
फिर, रामाज्ञा से सादर उसे लंका में
रखकर, तत्काल वहाँ से था प्रस्थान किया ॥ ३१ ॥

(उपजातिवृत्तम्)

विसृज्य तां बेञ्जकयीं प्रवीरो
वियोगदुःखाद्विमनायितोऽपि ।
प्रभोः स्मरंस्तच्चरणानुरक्त-
स्तमेव तावत्तरसा प्रपेदे ।। 32 ।।

प्रयत्नजाते विफले प्रजाते
विनाऽऽहवं दाशरथिं विजेतुम् ।
तस्मात्परावर्तयितुं तथा वा
संश्रित्य युक्तीरपि नैकरूपाः ।। 33 ।।

युद्धाय तावत्समनह्यतैव
दशाननो राक्षसवंशनाथः ।
रामोऽपि वीरैः कपिभिः समेतो
युद्धाय घोराय समुद्यतोऽभूत् ।। 34 ।।

उस बेज्जकयी को वहीं छोड़कर महावीर
उसके वियोग के दुःख से था उद्विग्न अधिक ।
प्रभु के चरणों की भक्ति व्यापती, हनुमत् वह
स्वामी की सेवामें सहसा आ गया त्वरित ॥ ३२ ॥

सारे प्रयत्न हो गये विफल जब रावण के
रण बिना विजय की प्राप्ति राम पर लक्ष यही ।
इसलिए, उन्हें लौटाने के हितार्थ
हो सकी सफल इस समय एक भी युक्ति नहीं ॥ ३३ ॥

वह राक्षसवंश शिरोमणि रावण सेना का
करके संगठन युद्ध के हित तैयार हुआ ।
राम ने भी अनेकानेक वीर कपिदल लेकर
उस समय घोर-रण हेतु सहज प्रस्थान किया ॥ ३४ ॥

एकादशः सर्गः

(नीलहनुमद्विग्रहोपाख्यानम्)

(भुजङ्गप्रयातवृत्तम्)

समुद्रस्य मध्ये स्थिता रावणस्य
पुरी नाम लङ्का बभौ राजधानी ।
समृद्धेः परं पारमाप्ता सुगुप्ता
त्रिलोक्यां प्रसिद्धिं परामाससाद ।।1।।

न तां सम्प्रपत्तुं सुशक्यं बभूव
यतोऽम्भोनिधिर्विस्तृतस्तां ररक्ष ।
कथं तत्र गन्तव्यमित्याकुलः सन्
क्षणं नापि रामः क्षणं प्राप वीरः ।।2।।

समुद्रे क्रियेताथ सेतुः कथञ्चित्
तदा पारमेतुं चमूः शक्नुयान्मे ।
विचिन्त्यैवमादिष्टवान् वायुपुत्रं
तथा नीलफन्नामधेयं कपिं सः ।।3।।

युवाभ्यामुभाभ्यां निबद्धव्य आशु
चमूनां कृते सेतुरस्मिन् समुद्रे ।
पटू अत्र कर्मण्युभौ स्थो युवां त-
न्नियुञ्जेऽत्र कर्मण्युभौ वामहं भोः ।।4।।

एकादश सर्ग

(नीलहनुमद्विगृहोपाख्यान)

रावण की सिन्धु मध्य स्थित
थी लंकापुरी राजधानी।
जो थी समृद्धिपूर्णा, रक्षित
त्रिभुवन प्रसिद्ध जानी-मानी ॥ १ ॥

संभव न पहुंचना वहाँ क्योंकि
विस्तृत सागर से वह रक्षित थी।
कैसे हो गमन, राम व्याकुल
क्षण भर भी मन में शान्ति न थी ॥ २ ॥

यदि किसी भाँति इस सागर में बन जाय सेतु
तब जा सकती मम सेना सागर पार वहाँ।
इस भाँति सोचकर वायुपुत्र हनुमन्त, नील-
फद कपि को या आदेश दिया राम ने वहाँ ॥ ३ ॥

'बाँधना चाहिए तुम दोनों को सागर में
सेनाओं के हेतु सेतु अब यथाशीघ्र।
सेतु-कर्म में कुशल दिख रहे तुम दोनों
इसलिए नियुक्त कर रहा तुम्हें इस कार्य में शीघ्र ॥ ४ ॥

अहो! भागधेयं यदावां स्मृतौ स्वः
करिष्याव आवां समुद्रेऽत्र सेतुम् ।
भवत्कार्यहेतौ निमित्तीभवन्ता-
ववश्यं प्रभो! धन्यकोटिं गतौ स्वः ।।5।।

तमुक्त्वैवमाशु प्रवीणौ स्वकार्ये
विहायान्यकार्यं समासज्जतां तौ ।
सुशीलाश्च सद्वृत्तयश्च स्युरेव
नियोज्या नियोगे स्वके सावधानाः ।।6।।

तयोरेवमासीन्निबन्धोऽत्र सेतो-
र्यदेकः शिलाः प्रक्षिपेदब्धिमध्ये ।
तदन्यश्च सम्यग्यथास्थानमेना
उपस्थापयेत्सेतुकार्यप्रवीणः ।।7।।

शिलानामवक्षेपकार्यं चकार
कपीनां वरो नीलफद्वीरवर्यः ।
निवेशं च तासां व्यधादाञ्जनेयो
यथाशक्ति कालातिपातं विहाय ।।8।।

पितृव्ये हनूमान् न मे साध्वचारीत्
पुरा जम्बुनाम्नीति कोपं दधानः ।
कपिर्नीलफद् मन्यते स्मोपयुक्तां
प्रतीकारवेलामिमामेव वीरः ।।9।।

द्रुतोऽभूत्तथा क्षेपणेऽसौ शिलानां
यथा नाशकत्तान् निवेष्टुं कथञ्चित् ।

हम दोनों का है अहोभाग्य, जो किया स्मरण
हम इस सागर में सेतु बनायेंगे भगवन् !
आपके कार्य के हेतु बने जो हम निमित्त
निश्चय ही धन्य हो गये हम दोनों भगवन् ! ॥ ५ ॥

उनसे कहकर इस भाँति कार्य में कुशल शीघ्र
अन्यान्य कार्य तज हेतु सेतु वे तैयार हुए।
सच है, जो होते हैं, सुशील-सद्वृत्तिवान्
वे अपने कार्य हितार्थ सदैव सतर्क रहें ॥ ६ ॥

उनमें आपस में यह समझौता हुआ वहाँ
एक तो शिला लाकर फैंकेगा सिन्धु मध्य।
दूसरा सेतु निर्माण कुशल उन्हें विधिवत्
रखता जायगा यथास्थान वह सिन्धु-मध्य ॥ ७ ॥

जो कपियों में था वीर नीलफद सर्वश्रेष्ठ
उसने ही शिला फेंकने वाला कार्य किया।
फिर, पवनपुत्र ने यथाशक्ति शीघ्रतिशीघ्र
उन सभी शिलाओं का यथास्थान निवेश किया ॥ ८ ॥

'पहले हनुमत् ने मेरे चाचा, जम्बू के साथ
व्यवहार न अच्छा किया,' नील सोचता यही।
इसलिए, क्रोधवश उस कपीन्द्र ने ठान लिया
प्रतिकार हेतु मिल गया सुअवसर आज यही ॥ ९ ॥

इसलिए, शिला फेंकने लगा तेज़ी से वह
जिससे न रख सके हनुमत् किसी भाँति उनको।

प्रवीणोऽपि वायोः सुतो भूरियत्नो
नितान्तं च तान्तान्तरङ्गो बभूव ।। 10 ।।

न भूयानपेक्ष्यो भवेत्क्षेपणाय
शिलानां समुद्रे गुरूणां हि कालः ।
निवेशे तु तासां यथास्थानमद्धा
व्यपेक्षाऽभवत्तस्य भूयस्तरस्य ।। 11 ।।

यदा काल एवं व्यतीयाय कश्चि-
न्नियोगोऽनयोः सम्परीवर्तितोऽभूत् ।
कपेराञ्जनेयस्य नीलस्य[1] चापि
तथाऽऽदेश आसीत्प्रभो राघवस्य ।। 12 ।।

पुरा यत्कपिर्नीलनामा व्यधत्त
तदेवाञ्जनेयेन कर्तव्यमासीत् ।
यदेवापि तेनाभवत्कार्यमत्र
तदेवाभवन्नीलनाम्ना विधेयम् ।। 13 ।।

स्वकर्मव्यतीहार एवं प्रवृत्ते
ऽपमानाग्निना दह्यमानो हनूमान् ।
प्रतीकारवेलामिमां स्वोपयुक्तां
विचिन्त्याश्रयद्युक्तिमत्राभियुक्तः ।। 14 ।।

स एकैकशो रोमसु स्वेषु युक्त्या
न्यबध्नाच्छिलाखण्डमेकैकशो द्राक् ।
भृशं चापि रुष्टः प्रतीकारमीप्सु-
र्निचिक्षेप तं सन्ततं तान्तचित्तः ।। 15 ।।

1. नीलफद् इत्यस्य स्थाने संक्षेपार्थं नीलशब्द एवेतः परं प्रयुक्तः ।

बहुशः प्रयत्न कर भी रख पाया उन्हें न जब
लग गई तभी थी ठेस वायु-सुत के मन को ॥ १० ॥

यद्यपि लगता था अधिक समय नील को नहीं
सिन्धु में शिलाओं को तत्काल फेंकने में ।
फिर भी, हनुमत् को लग जाता था अधिक समय
उनको सागर में यथास्थान रख देने में ॥ ११ ॥

इस भाँति कुछ समय बीत गया तब दोनों ने
अपने-अपने कार्यों में विनिमय किया वहीं ।
कपि आञ्जनेय और वीर नील के लिए स्वयं
प्रभु रघुनन्दन का हुआ तभी आदेश यही ॥ १२ ॥

पहले जो कार्य कर रहा था कपि नील स्वयं
अब वह कर्त्तव्य पवनसुत हनूमान् का था ।
जो कार्य कर रहे थे अब तक हनुमान् वहाँ
वह कार्य इस समय सहज नील कपिवर का था ॥ १३ ॥

अपना कर्तव्य पालने में वे हनूमान्
यद्यपि प्रवृत्त थे अपमानानल से विदग्ध ।
अब प्रतीकार का अवसर था मिल गया उन्हें
इसलिए, सोचकर सहज निकाली एक युक्ति ॥ १४ ॥

निज रोम-रोम में बाँधी क्रमशः कई शिला
शीघ्रतापूर्वक उनको लाता रहा वहाँ ।
था प्रतीकार का भाव भरा उसके मन में
इसलिए, उन्हें वह रहा फैंकता शीघ्र वहाँ ॥ १५ ॥

न नीलः शशाकातियत्नादपीमान्
शिलाखण्डकान् सन्निवेष्टुं यथावत् ।
भृशं लज्जितोऽवाङ्मुखश्चापि तस्थौ
न सह्या भवेन्मानहानिः कथञ्चित् ।। 16 ।।

स एवं विलोक्यातिदुःख्यन् रघूणां
पतिर्न प्रवृत्तिं तयोरक्षमिष्ट ।
व्यधाच्चापि दण्डव्यवस्थां द्वयोः स
विवादस्तयोरस्य नो सह्य आसीत् ।। 17 ।।

(उपजातिवृत्तम्)

नीलस्य वायोस्तनयस्य चापि
मिथो विवादो जनयेद्विवादम् ।
अन्येषु सैन्येष्विति चिन्तितोऽभूत्
सुसूक्ष्मदृग् दाशरथिर्महात्मा ।। 18 ।।

सैन्याधिपावेव परस्परेण
यदा विवादे कुरुतो मनः स्वम् ।
तदाऽन्यसैन्यानि न किं प्रकुर्यु-
'र्महाजनो येन गतः स पन्थाः' ।। 19 ।।

नाभ्यामभूत्प्रस्तुत आत्मसैन्य-
सङ्घार्थमादर्श इति प्रधार्य ।
दण्ड्याविमावित्यवधार्य चापि
समादिशद् दण्डमिमं महात्मा ।। 20 ।।

अति यत्न किया, पर, नहीं सफल हो सका नील
उन शिलाओं को यथास्थान रखने में जब।
अति लज्जित होकर बैठा वह नीचे मुंह कर
होती न कभी भी सह्य मानहानि हो जाती जब॥ १६ ॥

उन दोनों की यह दशा देख श्री रामभद्र
अत्यन्त दुःखी थे, इसे सहन कर सके न वे।
दण्ड की व्यवस्था उन दोनों के लिए हुई
उनका विवाद इस भाँति सह्य था नहीं उन्हें॥ १७ ॥

कपि नील और वायु-तनय में जो विवाद
था छिड़ा परस्पर, वह फैलायेगा विषाद।
किया विचार राम अपनी सूक्ष्म दृष्टि से
इससे अन्यान्य सैनिकों में होगा विवाद॥ १८ ॥

कारण कि परस्पर दो सेनापतियों में जब
छिड़ जाता है इस भाँति कलह मन मध्य कभी।
तब अन्य सैन्यगण क्या न करें, स्पष्ट स्वतः
'है पन्थ वही जिस पर महाजन चले कभी'॥ १९ ॥

ऐसा न हो कि ये दोनों अन्य सैनिकों के
सम्मुख प्रस्तुत कर दें सहसा आदर्श यही।
इसलिए, दण्ड की सहज व्यवस्था का विचार
करके राघव ने दिया दण्ड-आदेश यही॥ २० ॥

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

किष्किन्धानगरीं तावद् व्रजेन्नीलो महामनाः ।
सुग्रीवात्प्रति[1] तत्रास्तु शास्तु चैनां च शास्त्रतः ।। 21 ।।

यद्यदावश्यकं वस्तु सेनाया हि कृते भवेत् ।
तस्य तस्य व्यवस्थां स विदधातु प्रयत्नतः ।। 22 ।।

हनूमांश्चापि दिवसैः केवलं सप्तभिर्बुधः ।
बध्नातु सेतुं येनेयं यायाल्लङ्कां चमूर्मम ।। 23 ।।

(उपजातिवृत्तम्)

आदेशमेतं प्रभुणा विसृष्टं
निशम्य नीलः प्रययौ पुरं स्वम् ।
व्यापारयामास च वायुपुत्रः
सर्वात्मना सेतुनिबन्धने स्वम् ।। 24 ।।

1. प्रतिनिध्यर्थे प्रतिशब्दस्य प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (1.4.92) इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञायां प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (2.3.11) इत्यनेन पञ्चमी ।

जाये किष्किन्धा नगर नील
राम ने उसे यह दिया दण्ड ।
सुग्रीवराज का प्रतिनिधि वन
वह करे वहाँ शासन अखण्ड ॥ २१ ॥

आवश्यक जो सेना हितार्थ
उसको करना होगा प्रयत्न ।
उन सबकी करे व्यवस्था वह
स्वयमेव करे सारे प्रयत्न ॥ २२ ॥

कपि हनुमान् भी बस केवल
सात ही दिवस में करे पूर्ण ।
लंका जाये मम सेना जब
हो सेतुबन्ध का यह कार्य पूर्ण ॥ २३ ॥

सुनकर ऐसा आदेश नील
निज पुरी हेतु प्रस्थान किया ।
हनुमत् ने सेतु बाँधने में
सर्वात्म भाव से यत्न किया ॥ २४ ॥

द्वादशः सर्गः

(सुवर्णमत्स्योपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

कपिसैन्यसहायोऽसौ शतशः प्राक्षिपच्छिलाः ।
प्रस्तरांश्चापि येनासौ पूरितोऽम्भोनिधिर्भवेत् ।।1।।

दिनमेकं स बलवान् शतशः कपिभिः सह ।
अनारतं शिला अब्धौ प्रक्षिपन् व्यापृतोऽभवत् ।।2।।

अपरस्मिन् दिने प्रातः स्वकार्यार्थमुपस्थितः ।
अदर्शनं गतास्तत्र समवालोकयच्छिलाः ।।3।।

केयं मायेति सुतरां विस्मितः कपिपुङ्गवः ।
विनष्टा रात्रिमात्रेण शिलाः कुत्र गता इति ।।4।।

बहु चिन्तयमानोऽपि नैवाबुध्यत किञ्चन ।
प्रक्रन्तव्यं पुनः कार्यमिति चैवाश्रयन्मतिम् ।।5।।

स स्वयं कपयश्चापि तदादिष्टाः समन्ततः ।
शिलौघान् प्राक्षिपन् वार्धौ स्वस्य कर्मण्यतन्द्रिताः ।।6।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

द्वादश सर्ग

(सुवर्णमत्स्योपाख्यान)

कपि सेना की सहायता से उसने फेंकी सैकड़ों शिलाएँ।
एवं पत्थर जिनके कारण महासिन्धु ऊपर तक भर जाये ॥ १ ॥

इसलिए एक दिन हनूमान् बलवान् साथ ले शतशः वानर।
अविरत फैंकते सिन्धु मध्य वह लगातार अगणित पत्थर ॥ २ ॥

दूसरे दिवस प्रातः वह निज कार्य हेतु आ पहुंचा जब।
अचरज से देखा स्वयं तभी गायब थीं वहाँ शिलाएँ सब ॥ ३ ॥

यह कैसी माया, यही सोच विस्मित थी कपि की बुद्धि हुई।
वे सभी शिलाएँ गयीं कहाँ क्या एक रात में नष्ट हुईं ॥ ४ ॥

करता रह गया विचार बहुत पर, कुछ भी समझ न पाया वह।
इसलिए, शिला-प्रक्षेपण का उसने प्रारम्भ कर दिया कार्य पुनः ॥ ५ ॥

वह स्वयं तथा कपि का समूह थे कार्य मग्न आज्ञा पाकर।
इस भाँति शिलाओं से सहसा भर गया चतुर्दिक् वह सागर ॥ ६ ॥

प्रातर्यदाऽऽगाद्धनुमान् परेद्युः
समुद्रतीरे कपिभिः समेतः ।
नालोकयन् क्षिप्तचरं समुद्रे
विसिष्मिये पूर्वदिने शिलौघम् ।।7।।

शिला इतः कोऽपनयत्यकस्मात्
कस्मादिति ज्ञातुमशक्नुवानः ।
कपिर्हनूमान् व्यचिचिन्तदित्थं
स्थेयं मयाऽऽराज्जलधेर्निशायाम् ।।8।।

शिलाः समुद्रे दिवसे क्षिपामो
लोपं तु ता यान्ति कथं निशायाम् ।
कस्ताः किमर्थं च नयत्ययं मे
विवेचनीयो विषयोऽस्ति सूक्ष्मम् ।।9।।

परिश्रमोऽस्माकमनर्थकत्वं
दिवा कृतो याति निशासु हन्त ।
एवं स्थिते सेतुनिबन्धनं स्या-
दशक्यमेवेति महाननर्थः ।।10।।

स्थास्यामि रात्रावतिसावधानो
विहाय निद्रां समया समुद्रम् ।
द्रक्ष्यामि किं वा कुरुतेऽथ को वा
भवेदनेनैव रहस्यभेदः ।।11।।

आस्थाय सङ्कल्पमिमं हनूमान्
समुद्रतीरे स्थितिमान् बभूव ।

दूसरे दिवस हनुमान् सवेरे आये जब
वानर सेना के साथ सिन्धु के तीर वहाँ।
जो शिला समूह गये थे फैंके पिछले दिन
कैसा अचरज था, दिखा न कुछ भी उन्हें वहाँ ॥ ७ ॥

कौन हटाता शिलाओं को यहाँ से
भला इसमें क्या होगा उसका प्रयोजन।
यह समझ न पाने की स्थिति में हनुमत् ने
सोचा, आज रात चाहिए जलधि समीप मुझे रहना ॥ ८ ॥

फैंकी गयीं शिलाएँ दिन भर सागर में
किस भाँति रात भर में हो जातीं सहज लुप्त।
ले जाता है वह कौन, किसलिए, कहाँ
मेरी विवेचना का होगा यह विषय सूक्ष्म ॥ ९ ॥

दिनभर का कठिन परिश्रम हम सब कपियों का
है महाखेद ! जब वही रात में हुआ व्यर्थ।
इस स्थिति में संभव न सेतु का बन्ध सहज
जिससे निश्चित ही हो जायेगा महा अनर्थ ॥ १० ॥

इसलिए, रात्रि में अधिक सावधानी से मैं
रह जाऊँ तजकर नींद सिन्धु के निकट स्वयम्।
देखूंगा यह कर रहा कौन, किसलिए, अतः
तब खुल जायेगा रहस्य का भेद स्वयम् ॥ ११ ॥

मन में ऐसा धारण कर संकल्प हनूमान्
रुक गया रात में वहीं सिन्धु के तीर सहज।

श्रान्तोऽपि भूयो न ययौ स निद्रां
धीराः स्वकार्यैकपरा भवन्ति ।। 12 ।।

प्रलोभिता भूरि सुखैषणाभिः
कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा ।
अङ्गीकृतान्नैव कथञ्चनापि
धीराः स्वकार्याद्विरता भवन्ति ।। 13 ।।

गोधूलिवेलापगमे निशायां
समागतायां कपिरस्ततन्द्रः ।
दिङ्मण्डले चन्द्रमरीचिधौते
निस्तब्धतायां परितः स्थितायाम् ।। 14 ।।

तीरे समुद्रस्य गतो हनूमा-
नब्ध्यन्तरालस्थितिबोधकामः ।
अवप्लुतः संस्तरसा तदन्त-
र्विचित्रदृश्यं समवालुलोके ।। 15 ।।

अभूतपूर्वाश्रुतपूर्वमेव
यद्विस्मयं तस्य भृशं ततान ।
अकल्पनीयं सुतरां बभूव
यत्तेन साक्षात्परिदृष्टमास्त ।। 16 ।।

मत्स्यांश्च मत्सीश्च सहस्रशोऽसौ
युक्तान् शिलानां व्यपरोपणाय ।
ददर्श राज्ञीमपि तत्र तेषा-
मासन्निमे यद्वचनात् प्रवृत्ताः ।। 17 ।।

था थका, किन्तु, वह हुआ न नींद के वशीभूत
निज कार्य हेतु रहते हैं तत्पर धीर सहज ॥ १२ ॥

सुख की इच्छाओं से प्रलुब्ध होकर भी
नाना अनिष्ट कष्टों में अथवा घिरे हुए।
सचमुच होते जो धीर, दशा कैसी भी हो,
स्वीकार किया जो कार्य, न उससे विरत हुए ॥ १३ ॥

गोधूलि समाप्त हुई, जैसे आ गई निशा
दिङ्मण्डल में चाँदनी फैलती गयी वहाँ ।
धुल गया गगन का आंगन शशि की किरणों से
सर्वत्र उस समय थी विराजती शान्ति वहाँ ॥ १४ ॥

तन्द्रा तज हनुमत् सागर के तट पर आये
जानना चाहते थे रहस्य का भेद वहाँ ।
इसलिए, प्रविष्ट हुए वे सागर के अन्दर
सहसा विचित्र-सा दृश्य उन्हें दिख रहा जहाँ ॥ १५ ॥

जो पहले कभी न दिखा, सुना भी गया नहीं
दे गया घोर विस्मय उन्हें ऐसा दृश्य वहाँ ।
जिसकी न पूर्व कल्पना कभी हो सकती थी
साक्षात् वही उनको दिखलायी पड़ा वहाँ ॥ १६ ॥

सैकड़ों मत्स्यों के साथ मछलियाँ भी सहस्र
पाषाण शिला के अपसारण में व्यस्त सभी ।
कपिवर ने उनकी रानी को भी देख वहां
जिसकी आज्ञा से थे प्रवृत्त वे मत्स्य सभी ॥ १७ ॥

सुवर्णमत्स्येत्यभिधानिका सा
दशाननस्यास्त सुता सुबुद्धा ।
अर्धं शरीरेण बभूव मत्सी
बभूव सार्धेन मनुष्ययोनिः ।। 18 ।।

कपिर्हनूमानुपसेदिवांस्तां
पप्रच्छ कस्माद्धरणं शिलानाम् ।
तन्वन्ति मत्स्याः किमु तत्र हेतुः
प्रयोजनं वा किमु तत्र तेषाम् ।। 19 ।।

एते मदादेशवशात्प्रवृत्ताः
पितुर्ममादेशवशादहं च ।
कुर्वे तथाऽहं स यथाऽऽदिशन्माम्
'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' ।। 20 ।।

बद्धो भवेत्सेतुरपांनिधौ चेच्-
चमूरुपेयाद् भवतां नु लङ्काम् ।
मा भूदिदं, तत्परिहारहेतो-
स्तातोऽत्र मां कर्मणि संन्ययुङ्क्त ।। 21 ।।

परस्सहस्रैर्निजमत्स्यसैन्यैः
क्षिप्ताः शिला यत्नवशेन वार्धौ ।
उद्धारमुद्धारमपाकरोमि
यत्नं च वोऽहं विफलीकरोमि ।। 22 ।।

सांराविणं क्षिप्तशिलौघजातं
पपात तातश्रुतिशष्कुलीषु ।

मत्स्यों की रानी थी सुवर्णमत्स्या नामक
वह दशकन्धर की कन्या थी अति बुद्धिमती ।
आधा शरीर था उसका मछली के सदृश
आधे शरीर से थी वह मानव योनी की ॥ १८ ॥

कपि हनूमान् उस समय निकट उसके पहुंचे
पूछा—'किस कारण शिलायें हटाई गयी यहाँ ।
किस हेतु मछलियाँ लगी हुई हैं, अथवा क्या
इससे उनका दिख रहा प्रयोजन देवि ! यहाँ ॥ १९ ॥

वह बोली—' ये सब मेरी आज्ञा से प्रवृत्त
पिता की आज्ञा से प्रवृत्तिमती हुई हूँ मैं भी ।
इसलिए, कर रही मैं उनकी आज्ञा का पालन
गुरु की आज्ञा पर होता नहीं विचार कभी ॥ २० ॥

सागर में यदि बंध गया सेतु तो निश्चित ही
लंका में पहुंचेगी सेना आपकी सहज ।
ऐसा न हो सके, इस के परिहार हेतु
तात ने मुझे है सौंप दिया यह कार्य सहज ॥ २१ ॥

अपनी सहस्त्र मत्स्यों की सेना के द्वारा
जो शिलाएं यत्न से फैंकी जाती रही यहाँ ।
उनको हटवाती रही यत्न करके ही मैं
कर चुकी आपका विफल मनोरथ सफल यहाँ ॥ २२ ॥

जिस समय शिलाएँ सिन्धु मध्य प्रक्षिप्त हुईं
उनके गिरने का हाहाकारी स्वर सुनकर ।

यदा तदानीं बुबुधे विपश्चि-
न्निबध्यमानं जलधौ स सेतुम् ।। 23 ।।

कालेन तस्य प्रतिकारकार्ये
न्ययुङ्क्त मां योजनकर्मदक्षः ।
असावगादीच्च सुते! प्रयाहि
शत्रोश्च यत्नं विफलं विधेहि ।। 24 ।।

तदेव तावद्विदधामि भद्र!
रक्षात्मनो नो भृशमेषणीया ।
स्वरक्षणान्नास्ति परो हि धर्मः
स एव तावत् परिपाल्यतेऽत्र ।। 25 ।।

इत्येतदुक्त्वा खलु मत्स्यकन्या
तूष्णीं बभूवाथ कपिर्हनूमान् ।
तद्वाक्यविन्यासचमत्कृतोऽपि
तामुत्तरं तावदिदं प्रपेदे ।। 26 ।।

अर्थ्यं च हृद्यं च वचस्तवेदं
सुवर्णमत्स्ये! स्फुटवर्णशोभि ।
त्वद्वाक्यविन्यासचमत्कृतोऽपि
ब्रुवे वचस्त्वद्विपरीतमत्र ।। 27 ।।

'सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहु-
र्वृत्तः स नावत्र समुद्रमध्ये' ।
ब्रवीमि यत्त्वां हितकाम्ययाऽहं
सम्बन्धिनो मे श्रृणु देवि! तत्त्वम् ।। 28 ।।

पिता दशानन ने सहसा अनुमान किया
वे समझ गये बन रहा सेतु अब सागर पर ॥ २३ ॥

योजना कर्म में दक्ष तात ने इसीलिए
नियुक्त किया मुझे उसे निवारण करने में ।
बोले—'जाओ पुत्रि ! वहाँ पर यथाशीघ्र
शत्रु के प्रयत्न को विफल करने में ॥ २४ ॥

इसलिए, यहाँ मैं वही कर रही कार्य भद्र !
अपनी रक्षा की अभिलाषा का लक्ष्य यहाँ ।
निज रक्षा से बढ़कर है कोई धर्म नहीं
इसलिए उसी का पालन है हो रहा यहाँ ॥ २५ ॥

मत्स्यकन्या ये शब्द कहकर
जिस समय हो गई मौन, तभी हनुमान् ।
उस कन्या की वाणी से हुए चमत्कृत
तब भी दिया उत्तर उसे इस तरह था हनुमान् ॥ २६ ॥

'हे सुवर्णमत्स्ये ! वचन तुम्हारे आह्लादक
जिसमें वर्णों शब्दों की शोभा अनुरंजक ।
मैं हुआ चमत्कृत वाक्यों का विन्यास देख
पर, यहाँ कह रहा हूं मैं कुछ विपरीत वचन ॥ २७ ॥

कहते हैं, सम्भाषण से हैं संबंध बने
है यहाँ सिन्धु के मध्य हुई जो बातचीत ।
इसलिए, परम हित की इच्छा से तुमसे अब
संबंध विशेष तत्त्व की कहता ठीक बात ॥ २८ ॥

विचारशक्तिः प्रकृतिप्रदत्ता
हेया जगत्यां न जनैः कदाचित् ।
नृणां पशूनां च कथञ्चिदेव
तदन्यथात्वे न भवेद्विवेकः ।। 29 ।।

सत्यं वचस्तद् भवती यदाह
मान्याः सदा नो गुरवो जगत्याम् ।
तथाऽप्यनौचित्यकृतं कदापि
कर्मादसीयं न समर्थनीयम् ।। 30 ।।

श्रीरामपत्नीमहरत् पिता ते
छलेन साध्वीं धृतसाधुवेषः ।
अधर्म्यमाचारविवर्जितं च
कार्यं कृतं तेन जघन्यमेतत् ।। 31 ।।

अकीर्तिरितेन जगत्त्रयेऽस्य
च्छलेन दारान् हरतोऽपरस्य ।
वेदार्थविज्ञोऽप्यपवित्र एष
'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' ।। 32 ।।

पिताऽपि यद्युत्पथमाश्रयेत
वर्ज्यो भवेदेव कदन्नवत्सः ।
साहाय्यमस्य प्रविधेहि न त्वं
विवेकिनामग्रसरा मताऽसि ।। 33 ।।

श्रुत्वैतदूर्जस्वि वचः कपेः सा
ऽभवत्क्षणं गूढविचारमग्ना ।

शक्ति-विचारों की कहलाती नैसर्गिक
लोग उसे जगती में समझें हेय नहीं।
अन्यथा कौन है नर, अथवा पशु कौन यहाँ
इसका विवेक करना कदापि आसान नहीं ॥ २९ ॥

जग में गुरुजन होते सदैव सम्माननीय
आपने कहे जो वचन वस्तुतः सत्य वही।
फिर भी, यदि अनुचित कर्म करें वे किसी समय
तो वह कदापि होता न समर्थन योग्य कहीं ॥ ३० ॥

छल से धारण कर साधुवेष स्वयं पिता ने तेरे
श्री रामचन्द्र की सतवंती भार्या का किया हरण।
उसका यह कृत्य सर्वथा है अत्यन्त घृणित
आचार विवर्जित वह अधर्मवत् कदाचरण ॥ ३१ ॥

अपहरण अन्य की पत्नी का छल-द्वारा
तीनों लोकों में फैलाता है अपयश ही
वेदार्थ ज्ञानी है यह तथापि है अपवित्र
आचारहीन को वेद न करते शुद्ध कभी ॥ ३२ ॥

यदि पिता चल रहा हो कुमार्ग पर तो अवश्य
वह घृणित अन्न की भाँति त्याग के योग्य सही।
उसकी सहायता तुम्हें नहीं करना तुम तो
सदसद्विवेक में सबसे आगे देवि ! रही' ॥ ३३ ॥

हनुमत् के ऐसे श्रेष्ठ वचन सुन वह देवी
हो गयी विचार-निमग्ना कुछ क्षण हेतु वहाँ।

आन्दोलिताऽथो विपरीतभावै-
वर्तिरिता नौरिव निम्नगायाम् ।। 34 ।।

दीर्घं विनिःश्वस्य विचिन्त्य किञ्चित्
सुवर्णमत्स्या कपिमाबभाषे ।
तत्सत्यमेवास्ति यदात्थ सौम्य!
त्वत्तो न मे विप्रतिपत्तिरस्ति ।। 35 ।।

नार्यस्मि नारीहरणं बलेन
च्छलेन वा नैव समर्थयेय ।
कष्टाय तस्यै प्रियविप्रयोगः
पतिर्हि नार्यै परमेश्वरोऽस्ति ।। 36 ।।

मूढा पितुर्मोहवशं गताऽहं
साहाय्यमस्याचरितुं प्रवृत्ता ।
मोहोऽस्ति नष्टो वचनैः स मेऽद्य
श्लक्ष्णैस्त्वदीयैः सुविचारवद्भिः ।। 37 ।।

सज्जाऽस्मि कर्तुं वचनं त्वदीयं
सर्वेऽनुगा मे विरता भवन्तु ।
स्थाने स्थिताः सन्तु शिलास्तवैताः
सिद्धोऽस्तु ते भद्र! मनीषितोऽर्थः ।। 38 ।।

इत्येतदुक्त्वा विरराम धीरा
प्रीतिं कपेश्चेतसि कुर्वती सा ।
अन्योन्यमालोकयतां तदा तौ
सुवर्णमत्स्या च कपिश्च वीरः ।। 39 ।।

विपरीत भाव उसे आन्दोलित करते थे ऐसे
ज्यों पवन प्रेरिता नाव नदी के मध्य वहाँ ॥ ३४ ॥

लेकर सुदीर्घ निःश्वास तथा कुछ सोच-समझ
बोली सुवर्णमत्स्या कपि से इस भाँति यही ।
'हे सौम्य ! कहा जो तुमने वह है सत्य क्योंकि
मेरे विचार से इसमें कुछ भी भेद नहीं ।' । ३५ ॥

मैं नारी हूं, नारी का छल से-या बल से
अपहरण-समर्थन भी कर सकती कभी नहीं ।
वह प्रिय-वियोग उसके हित पीड़ादायक है
नारी का परमेश्वर तो होता है पति ही ॥ ३६ ॥

मैं मूढ़, पिता का मोह विवश कर गया मुझे
जिससे उनकी सहायता-हित मैं लग गयी सहज ।
इस समय आपके वचनों से हुआ मोह नष्ट
और जग उठे मन में उत्तम भाव सहज ॥ ३७ ॥

आदेश तुम्हारा मुझको पालन करना है
मेरे सारे अनुचर होंगे अब कार्य विरत ।
रखी जायें पाषाण शिलाएँ यथास्थान
संकल्प तुम्हारा भद्र ! सिद्ध हो यहाँ सहज ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर वह सुवर्णमत्स्या हुई शान्त
वह धीरा कपि से प्रीति जताती रही वहाँ ।
देखते परस्पर प्रेम-भाव से वे दोनों
कपि महावीर और सुवर्णमत्स्या रहे जहाँ ॥ ३९ ॥

एवं तदाऽऽलोकयमानयोस्तु
मिथोऽनुरागोऽङ्कुरितो बभूव ।
बभूवतुस्तद्वशगावुभौ च
साधारणः प्राणिषु भाव एषः ।। 40 ।।

(वसन्ततिलकावृत्तम्)

वज्राङ्ग एष तरुणः शुभदर्शनश्च
धीरः पराक्रम इवाश्रिततत्स्वरूपः ।
सुश्लक्षणवाक् परहिते निरतो वदान्यो
लोकातिगैर्गुणगणैः परिभूषितश्च ।। 41 ।।

दृष्ट्वैनमत्र मनसः सुतरामनीशा
जाने न किं खलु मया करणीयमत्र ।
पर्याकुलेव लुलितेव सुविह्वलेव
वल्लीव पौरुषतरुं श्रयितुं लषामि ।। 42 ।।

किं नाम चेतसि भवेच्छुभदर्शनस्य
भावः स एव हृदयं मम यो धुनोति ।
एषोऽपि किं कुसुमचापशरौघविद्धो
गाढं भवेदहमिवेति सुवर्णमत्स्या ।। 43 ।।

चिन्तापरा विविधचारुविचारवीचि-
प्रेङ्खोलिता न वचनं किमपि प्रपेदे ।
वायोः सुतोऽपि कमनीयतमाङ्गयष्टिः
पश्यन्न तां स्वमनसः प्रबभूव वीरः ।। 44 ।।

इस भाँति परस्पर अवलोकन से दोनों में
अनुराग-भाव का हुआ अंकुरण वहाँ सहज।
दोनों हो गये काम के वश में अनायास
प्राय: जीवों में हो जाता यह भाव सहज ॥ ४० ॥

यह है बज्रांग, तरुण, शुभदर्शन है इसका
लगता पराक्रम ने इसका धर लिया रूप।
इसकी वाणी है मधुर, निरत यह पर हित में
अत्यन्त अलौकिक गुण भूषित इसका स्वरूप ॥ ४१ ॥

देखकर इसे मेरा मन नहीं नियंत्रण में
क्या करूं, समझ में नहीं आ रहा मुझे यहाँ।
मैं व्याकुल, विह्वल, लता सदृश, इस पौरुष तरु
के आश्रय की अभिलाषा होती सहज यहाँ ॥ ४२ ॥

क्या यही भाव इस शुभदर्शन के मन में भी
जो मेरे अन्तर को सहसा करते आकुल।
क्या कामदेव के पुष्पबाण से यह प्रबिद्ध
जिससे इस समय मत्स्यकन्या भी है व्याकुल ॥ ४३ ॥

इस भाँति विविध सुन्दर विचार के चिन्तन से
उद्वेलित होती रही न बोली कुछ भी वह।
कमनीय सुन्दरी को लख कंर तब वायुपुत्र
अपने मन पर रख सका नियंत्रण वीर न वह ॥ ४४ ॥

सौन्दर्यमद्भुतमनिन्द्यतमं जगत्यां
वर्णः सुवर्णमिव कोकिलवत्स्वरश्च ।
भृङ्गावलीव ननु कुन्तलराजिरस्याः
कं वा नहि प्रमदयेत् प्रमदोत्तमैषा ।। 45 ।।

धीरं विलोकयति विस्फुटमन्दहासा
वाचं न मिश्रयति वानरवीरवाचा ।
आविष्करोति दृढभूमिमुपेयिवांसं
निःश्वासवायुमिषतः स्मरदाहमेषा ।। 46 ।।

अन्योन्यमेवमवितृप्ततयोपपन्नौ
गाढोपगूहनसुखाकुलितान्तरङ्गौ ।
वायोः सुतश्च रमणी च सुवर्णमत्स्या
गाढं बभूवतुरुभौ मदनेषुविद्धौ ।। 47 ।।

आनन्दमापतुरुभौ च गिरामगम्यं
संमीलिताक्षियुगलौ परिलुप्तधैर्यौ ।
रागाङ्कुरस्फुरणताम्रकपोलयुग्मौ
वक्षोनिपीडमधरामृतपानमग्नौ ।। 48 ।।

रोमोद्‌गमप्रकटरागविशेषवृत्ती
विद्धौ समं मनसिजासमपुङ्खपत्रैः ।
आबद्धबाहुयुगलौ परिनिःश्वसन्तौ
स्वेदाम्बुजालजटितालकजालकाली ।। 49 ।।

अन्योन्यचुम्बनपरौ रतिकर्मसक्तौ
सम्प्रापितौ मनसिजेन दशां विचित्राम् ।

अद्भुत, अनिंद्यतम सुन्दरता संसारमध्य
वर्ण भी सुवर्ण की भाँति, वचन कोकिल स्वर-सा।
भ्रमरावलि सदृश सुनिश्चित केशराशि इसकी
इस प्रमदा को लख आकुल हो, न कौन ऐसा ॥ ४५ ॥

वह मन्दहासिनी देख रही धीरे-धीरे
कपि की वाणी के साथ न वाणी मिला रही।
निःश्वास छोड़ती हुई काम का दाह बड़ा
दृढ़ता से अपना प्रेम भाव भी दिखा रही ॥ ४६ ॥

वे हुए परस्पर निकट रही इच्छा अतृप्त
थे हृदय सुखाकुल, किन्तु, दिख रहे थे निमूढ़।
वायु के पुत्र हनुमान, मत्स्यकन्या रमणी
काम के बाण से विद्ध हो उठे थे विमूढ़ ॥ ४७ ॥

मुंद गये नयन, था लुंप्त धैर्य, प्रेमातिरेक
के कारण रक्तिम हुए सहज उनके कपोल।
अधरोष्ठ-पान करते, आलिंगन सुख पाते
शब्दों में वर्णन हो न सके, वह दृश्य लोल ॥ ४८ ॥

अनुराग विशेष बढ़ गया था रोमाञ्च अधिक
वे कामदेव के बाणों से अनुविद्ध सहज।
आबद्ध बाहु थे दोनों के निःश्वास बढ़े
स्वेदाम्बुजाल से जटिल हुई अलकालि सहज ॥ ४९ ॥

रतिकर्म लीन वे हुए परस्पर चुम्बन में
मनसिज के हाथों हुई विचित्र दशा उनकी।

आनन्दसागरतरङ्गपरम्परासु
प्रेङ्खोलितौ सममुभौ रजनीं व्यनैष्टाम् ।। 50 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

व्यतियाप्य निशामेवं कपिः प्रमुदितस्तदा ।
वारांनिधेः समुत्प्लुत्य स्वस्थानं पुनरागतः ।। 51 ।।

विनिर्गता समुद्राच्च मत्स्यकन्याऽपि सुन्दरी ।
लङ्कां प्रत्याजगामाथ परां निर्वृतिमीयुषी ।। 52 ।।

लङ्काप्रत्यागमात्पूर्वं पुत्रं साऽजनयच्छुभम् ।
मच्छानुरितिनामानं हनूमत्पितृकं शुभा ।। 53 ।।

रुष्येत्कदाचिन्मे तात इति भीतिवशं गता ।
विससर्ज सुतं तीरे समुद्रस्यैव सुन्दरी ।। 54 ।।

मच्छानुरितिनामाऽयं कालेन ववृधे सुतः ।
पितृवच्चैव बलवान् वीरश्च समजायत ।। 55 ।।

आनन्द सिन्धु की लहरों में नर्तन करते
इस भाँति परमसुख में बीती रजनी उनकी ॥ ५० ॥

मुदित हो कपि बिताकर रात वह
लौट आया सिन्धु को कर पार।
मत्स्यकन्या सिन्धु से बाहर निकल
वह गई लंका अधिक सुख प्राप्त कर ॥ ५१ ॥

लंका में जाने से पहले
उसने शुभ सुत को जन्म दिया।
मच्छानु नाम उस सुत का जो
हनुमान तनय विख्यात हुआ ॥ ५३ ॥

वे तात कदाचित् रुष्ट न हों
भयभीता थी, सोचकर यही।
इसलिए, सुन्दरी ने सुत को
तज दिया सिन्धु के तीर वहीं ॥ ५४ ॥

मच्छानु नामधारी सुत यह
समयानुसार जब बड़ा हुआ।
निजपिता सदृश वह महावीर
विख्यात महाबलवान् हुआ ॥ ५५ ॥

त्रयोदशः सर्गः

(मैयराबोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

सुवर्णमत्स्याविहितेऽन्तराये
हनूमता युक्तिवशान् निरस्ते ।
सेतुः समुद्रे समयेन बद्धः
श्रीरामसैन्यैर्हनुमत्पुरोगैः ।।1।।

सैन्यानि चैनेन सुखं गतानि
कालेन लङ्कापुरमाप्तवन्ति ।
समन्ततस्तां रुरुधुर्दशास्य-
चिन्ताचितावह्निविवर्धकानि ।।2।।

युद्धं विना मे विजयो यदि स्यात्
फलेग्रहिस्तर्हि मनोरथः स्यात् ।
वधेन रामस्य जयो ध्रुवं मे
तत्रैव मे सर्वविधोऽस्तु यत्नः ।।3।।

सङ्कल्पमारुह्य दृढं स एतं
जनं तमन्वेष्टुमना बभूव ।

त्रयोदश सर्ग

(मैयराबोपाख्यान)

बाधा जो सुवर्णमत्स्या ने डाली उसको
युक्ति से था हनुमत् ने जैसे ही दूर किया।
समयानुसार बन गया सेतु भी सागर पर
हनुमत् ने सेना लेकर उसको पूर्ण किया ॥ १ ॥

कुछ समय अनन्तर सारी सेनाएँ सुख से
लंका नगरी में सबने सहज प्रवेश किया।
रावण की चिन्ता-चिता-अग्नि के सदृश स्वयं
सेनाओं ने नगरी को चतुर्दिक घेर लिया ॥ २ ॥

युद्ध के बिना यदि मेरी विजय हुई संभव
तब हो जायेगा मेरा पूर्ण मनोरथ भी।
निश्चित ही मेरी विजय राम के वध से है,
अब सब प्रकार से मुझको करने यत्न सभी ॥ ३ ॥

इस भाँति कर लिया दृढ़ संकल्प दशानन ने
वह लगा ढूंढ़ने उसे करे जो कार्य यही।

सम्पादने योऽस्य भवेत्समर्थो
विवेद तं च प्रियमैयराबे ।।4।।

पातालदेशं किल मैयराब-
नामा नृपो नाम पुरा शशास ।
हस्तापचेयामितविक्रमोऽसा-
वजेय इत्येव सुविश्रुतोऽभूत् ।।5।।

अभिन्नमित्रं स दशाननस्य
तस्य प्रमाणीकुरुते स्म वाक्यम् ।
कल्याणकृत् स स्वसखस्य तस्य
निरन्तरं तद्धितवृत्तिरासीत् ।।6।।

सम्प्राह तं वीरवरं दशास्यो
रामं जहि त्वं परिपन्थिनं मे ।
सखाऽनुजो वाऽपि मतो मम त्वं
त्वामेव कार्येऽत्र ततो नियुञ्जे ।।7।।

तदभ्युपागात् किल मैयराबः
प्रमाणयन् मित्रवचो गरीयः ।
आगाच्च तत्राशु बभूव यत्र
सत्रा भटैः स्वै रघुवंशवीरः ।।8।।

रामस्य तावच्छिबिरं प्रपन्नः
पातालराजो विससर्ज तादृक् ।
चूर्णं स्थिता येन जनाः समेऽपि
निद्रावशं तत्र गता अकस्मात् ।।9।।

निःसंशय ही इसके सम्पादन में समर्थ
वह समझ गया प्रिय मैयराब कर सके यही ॥ ४ ॥

पाताल देश में मैयराब नामक राजा
प्राचीन काल में शासन करता रहा वहाँ।
वह बिन शस्त्र के हथफेरी दिखलाता था
जिससे अजेय हो गया परम विख्यात वहाँ ॥ ५ ॥

लंकापति रावण का वह था कि अभिन्न मित्र
उसके वचनों पर सदा अटल ही रहता था।
कल्याण हेतु निज परम मित्र के वह दानव
निशि-वासर सहज निरन्तर तत्पर रहता था ॥ ६ ॥

उस परमप्रतापी से रावण ने कहावीर !
राम हैं हमारे शत्रु करो तुम उनका वध।
तुम सखा, अनुज अथवा हो मेरे मत पर दृढ़
इसलिए, किया इस कार्य हेतु तुमको नियुक्त ॥ ७ ॥

सुनकर रावण के वचन गया वह मैयराब
आदेश रूप जो मित्र-वचन को समझ रहा।
थे राम जहाँ निज वीरों के साथ में वहाँ
वह मैयराब शीघ्रातिशीघ्र ही पहुंच गया ॥ ८ ॥

राम के शिविर में वह जैसे ही जा पहुंचा
पातालराज ने वैसे ही था छिड़क दिया।
चूर्ण भी उन्हीं सारे लोगों पर एक साथ
जिससे निद्रा ने था उन पर अधिकार किया ॥ ९ ॥

सर्वेषु सुप्तेषु तदा प्रसुप्तं
श्रीरामभद्रं स ततोऽपनिन्ये ।
पातालभूमिं वधकाम्यया तं
सम्प्रापयामास च हेलयैव ।। 10 ।।

पातालभूमिं समुपेयिवांश्च
प्रक्षेप्तुमुष्णोदक एनमैच्छत् ।
श्रीरामभद्रः प्रविलुप्तसंज्ञो
मृत्योर्मुखं यास्यति बन्धुहीनः ।। 11 ।।

यावत्स सङ्कल्पमिमं तनोति
तावत्सहाया रघुनन्दनस्य ।
चूर्णप्रभावे क्षयमीयुषि द्राग्
विहाय निद्रां परितो न्यशाम्यन् ।। 12 ।।

रामं यदा ते ददृशुर्न तत्र
तदा बभूवुर्हतचेतसस्ते ।
गतः क्व धीमानिति नाविदुस्ते
विचारयन्तोऽपि बहु स्वबुद्ध्या ।। 13 ।।

कुतो ह्यकस्माच्छयितेषु तेषु
श्रीरामसूर्योऽस्तमुपागतोऽस्ति ।
को वा नयेत्तं क्व नु वेति तेषां
नात्र स्वबुद्धिप्रसरो बभूव ।। 14 ।।

विभीषणः केवलमास्त तेषु
निजेन दिव्यस्फटिकेन योऽवेत् ।

सबके सो जाने पर उसने भी उसी समय
सोए थे राम, अस्तु, उनका अपहरण किया।
वध की इच्छा से उनको उस पातालभूमि
में लाकर उसने सहज रूप में स्थान दिया ॥ १० ॥

तदनन्तर वह पाताल भूमि में लाकर के
फिर तप्त वारि में प्रक्षेपण की इच्छा की।
जिससे वे संज्ञाहीन राम जो बंधुहीन
मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे वे निश्चित ही ॥ ११ ॥

जब तक संकल्प कर रहा दानव वह
तब तक रघुवर के परम सहायक रहे जहाँ।
चूर्ण का प्रभाव क्षण होते ही वे यथाशीघ्र
जागकर देखने लगे चतुर्दिक् उन्हें वहाँ ॥ १२ ॥

जिस समय वहाँ उनको न दिखाई पड़े राम
उस समय सभी हो गये अचानक ही व्याकुल।
श्रीमान् कहाँ चल दिये, न जान सके वे सब
कर रहे विचार स्वमति अनुसार हुए आकुल ॥ १३ ॥

श्रीरामरूप वे सूर्य अचानक, भला कहाँ
अस्त हो गये सहज ही पता नहीं।
अथवा उनको ले गया कौन, किस ओर कहाँ
उनकी अपनी वह बुद्धि समझ भी सकी नहीं ॥ १४ ॥

उन सब में एक विभीषण ही ऐसा
जो अपनी दिव्य दृष्टि से था रहस्य सब जान गया।

न श्रव्यमासीन्न च वाऽपि दृश्य-
मन्यैर्जनैर्यज्जगतीतलेऽस्मिन् ।। 15 ।।

तेनैव दिव्यस्फटिकेन दिव्य-
शक्तिर्दशास्यावरजो व्यजानात् ।
कुत्रास्ति रामोऽपहृतश्च केन
कस्माच्च हेतोः किमवस्थकश्च ।। 16 ।।

श्रीरामसैन्येषु परस्परेण
दीर्घं विमर्शं समुपेतवत्सु ।
विभीषणो भीषणशोकमेषां
हर्तुं गिरं तावदिमां प्रपेदे ।। 17 ।।

जानामि केनापहृतो मनस्वी
मायामुपाश्रित्य रघुप्रवीरः ।
प्रापय्य निद्रावशमेष नीतो
जाग्रत्पुनर्नो मनसाऽपि धृष्यः ।। 18 ।।

पातालदेशाधिपतिः सहायो
दशाननस्यास्ति हि मैयराबः ।
तेनैव मायावशतोऽपनीतः
श्रीरामभद्रः सुतरां विनीतः ।। 19 ।।

नीतश्च देशं स्वकमेष तेन
प्रस्वाप्य सर्वानिह संस्थितान्नः ।
प्राप्तव्य एवास्ति स देश आशु
यावत्स तं हन्ति[1] रघुप्रवीरम् ।। 20 ।।

1. यावत्पुरानिपातयोर्लट् (3. 3. 4.) इत्यनेन लटि रूपम् ।

आज तक किसी ने इस पृथ्वी तल पर कदापि
ऐसा रहस्य न देखा न था सुना गया ॥ १५ ॥

उस दिव्य शक्ति के द्वारा रावण का भ्राता
यह समझ गया, इस समय राम हैं, भला कहाँ ।
किसने उनका अपहरण किया, किस कारण से
सब ध्यान किया, किस भाँति पड़े हैं, राम वहाँ ॥ १६ ॥

श्री रामचन्द्र की सेना में जब आपस में
उन सबने था परम विचार विमर्श किया ।
तब उनके भीषण शोक निवारण के हितार्थ
इस भाँति विभीषण ने उन सबसे सहज कहा ॥ १७ ॥

मैं समझ रहा हूं माया का आश्रय लेकर
किसने अपहरण किया रघुवीर मनस्वी का ।
निद्रा के वश में करके ही ले गया उन्हें
अन्यथा जाग्रत में न कभी यह संभव था ॥ १८ ॥

पाताल देश का राजा मैयराब नामक
जो लंकापति रावण का सहज सहायक है ।
उसकी माया से हुआ अपहरण, यही सत्य
उन रामभद्र का जो विनयी रघुनायक हैं ॥ १९ ॥

ले गया उन्हें वह अपने उस पाताल देश
साथ ही हमें तो सुला दिया है स्वयं यहाँ ।
इसलिए, पहुंचना है तब तक पाताल शीघ्र
जब तक वह श्रीराम की न हत्या करे वहाँ ॥ २० ॥

एकोऽस्ति वज्राङ्गबली हनूमान्
योऽस्मासु शक्तः समभिप्रपत्तुम् ।
पातालदेशं दनुजाधिराज-
निवासभूमिं भुजगैः परीतम् ।।21।।

तस्मात्स यात्वाशु विहाय चिन्तां
तत्र स्थितं रक्षतु राघवं च ।
कृत्येषु सर्वेष्विदमेव कृत्यं
भजेत तावत्प्रथमत्वकोटिम् ।।22।।

वाचं निशम्याथ विभीषणस्य
श्रीरामभद्रार्थपरायणस्य ।
उत्पुप्लुवे द्यां पवनस्य पुत्रः
पातालदेशं प्रति च प्रतस्थे ।।23।।

सङ्कल्पितार्थं हृदि सम्प्रधार्य
कष्टैरनिष्टैरपि वेष्टिताङ्गाः ।
मनस्विनो धैर्यपराः स्वकार्यं
संसाधयन्त्येव तदेकचित्ताः ।।24।।

प्रतिष्ठमानश्च ददर्श मध्ये-
पथं तदा वीरवरः सरः सः ।
चक्रैरिवात्यन्तविशालरूपैः
पद्मैर्भृतं यत्परितो बभूव ।।25।।

समुद्दधारैकमसौ तदैषु
तन्नालदण्डे स्वमवेशयच्च ।

हम सब में वज्रअंग हैं हनूमान
हैं एक वही जो कर सकते यह कार्य सहज ।
पाताल देश के दानव अधिपति की धरती
है घिरी हुई रक्षार्थ भुजंगों से जो सहज ॥ २१ ॥

इसलिए, जायें हनुमान शीघ्र तज कर चिन्ता
सब भाँति करें राघव की रक्षा स्वयं वहाँ ।
करने हैं जो भी कार्य उन्हीं में सर्वप्रथम
इस समय यही करना है उसके लिए यहाँ ॥ २२ ॥

तदनन्तर सुनकर सहज विभीषण की वाणी
जो रामभद्र की अर्थ सिद्धि में थी तत्पर ।
वे पवनपुत्र हनुमान उड़े आकाश मध्य
पातालदेश के लिए चल पड़े तदनन्तर ॥ २३ ॥

अपने उस परम प्रयोजन को उर में धरकर
कष्टानिष्टों से भी जिनके तन ढंके हुए ।
थे धैर्य-धुरीण मनस्वी दिख पड़े सदा
हो एक चित्त, निज कार्यसिद्धि में रमे हुए ॥ २४ ॥

वह महावीर जो वीरों में था सर्वश्रेष्ठ
उस समय मध्य पथ में देखा तालाब एक ।
जो ढका हुआ था सभी ओर, उन कमलों से
चक्र सदृश अतिशय विशालरूपी अनेक ॥ २५ ॥

फिर, हनूमान ने तुरत उखाड़ा एक कमल
घुस गये उसी के नालमध्य उस समय वहाँ ।

गच्छन् क्रमात्तेन ददर्श चापि
सरोऽन्यदेकं स कपिप्रवीरः ।। 26 ।।

सरस्तदासीत्परिरक्षितं तत्-
पुत्रेण मच्छान्वभिधेन दिव्यम् ।
सुवर्णमत्स्याभिधया प्रसूतो
योऽभूत्पुरा सङ्गवशान्निजस्य ।। 27 ।।

प्रसूतमात्रं किल सा तनूजं
दशास्यरोषं परिहर्तुकामा ।
समुद्रतीरे विससर्ज वामा
प्रीताऽपि पुत्राऽऽप्तिवशेन भीता ।। 28 ।।

समुद्रतीरे विलसन्तमेनं
स्वप्ने कदाचित्परिदृष्टपूर्वम् ।
पातालराजोऽक्षिगतं चकारा-
ऽऽदाय स्वदेशं च समानिनाय ।। 29 ।।

पुत्रीचकारापि च तं प्रहृष्टः
सम्पोषयामास सुखेन चापि ।
कालेन तावद्ववृधे कुमारः
कुमारवच्छक्तियुतो बभौ च ।। 30 ।।

तारुण्यलावण्यविभूषिताङ्गो
नाभूत्स दृष्टो जनकेन पूर्वम् ।
हेतोरतो नह्यभवत्तदात्वे
ऽभिज्ञा तनूजस्य पितुश्च काऽपि ।। 31 ।।

क्रम से देखा तब एक सरोवर अन्य और
उस कपि प्रवीर ने सहसा जाते हुए वहाँ ॥ २६ ॥

उस दिव्य सरोवर की संरक्षा में तत्पर
हनुमन्त पुत्र मच्छानु नाम जिसका प्रसिद्ध ।
उत्पन्न हुआ था जो सुवर्णमत्स्या से जब
उन हनूमान का उससे था हो गया सङ्ग ॥ २७ ॥

पैदा होते ही उस सुत के त्याग का भाव
जागा मन में रावण का रोष समझकर वह ।
तत्काल सिन्धु के तट पर ही उस वामा ने
बालक को त्याग दिया, लगती भयभीता वह ॥ २८ ॥

सागर तट पर खेलता हुआ बालक ! देखा
पातालराज ने कभी स्वप्न में जो स्वरूप ।
इसलिए, उठा लाया स्वदेश में बालक को
प्रत्यक्ष देखकर दानवपति ने वही रूप ॥ २९ ॥

होकर प्रसन्न स्वीकार कर लिया उसे पुत्र
सुख से उसका पालन पोषण भी किया अधिक ।
समयानुसार वृद्धि को प्राप्त कर वह कुमार
हो गया शक्ति सम्पन्न वह कार्तिकेय सदृश ॥ ३० ॥

तारुण्य तथा लावण्य विभूषित हुए अंग
देखा न पिता ने उसको इसके पूर्व कभी ।
इसलिए इस समय पिता तथा सुत मध्य
हो सकी सहज उनमें कुछ भी पहचान नहीं ॥ ३१ ॥

विकस्वराम्भोजविलोभनीयान्
मच्छानुरारात्सरसः स्थितः सन् ।
सविस्मयोऽदृष्टचरीं कदापि
विचित्ररूपाकृतिमालुलोके ।।32।।

कोऽयं भवेद्धेतुरिहात्र को वा
समागमेऽस्येति बहु प्रतर्कम् ।
आरूढवानप्यतिसूक्ष्मदृष्ट्या
न निश्चयं गन्तुमयं शशाक ।।33।।

अज्ञात एषोऽत्र जनः कुतश्चित्
समागतो मे प्रतिरोधमर्हः ।
मच्छानुरेवं प्रविचिन्त्य साक्षात्
कपेः प्रतीरोध इव स्थितोऽभूत् ।।34।।

तृणाय मत्वा हनुमान् यदा तं
प्रक्रान्तुमग्रे समभूत् प्रवृत्तः ।
पदाहताशीविषतुल्यरूपो
मच्छानुरेनं न्यरुणत्तदानीम् ।।35।।

रुद्धे कपौ वीरवरेण तेन
भयङ्करं युद्धमभूत्प्रवृत्तम् ।
शौर्यं च वीर्यं च पराक्रमश्च
यत्रोभयोश्चित्रमिवाविरासन् ।।36।।

पिता च पुत्रश्च तदा नियुद्धे
परस्परेण व्यतिजघ्नतुस्तौ[1] ।

1. न गतिहिंसार्थेभ्यः (1.3.15) इत्यनेनात्मनेपदनिषेधः ।

विकसित पद्मों के मध्य अधिक आकर्षक वह
था खड़ा सरोवर के तट पर मच्छानु जहाँ ।
हो उठा चकित देखकर विचित्र रूपाकृति को
जिसको न आज तक उसने देखा कभी यहाँ ॥ ३२ ॥

हो सकता है यह कौन या कि किस हेतु यहाँ
आगमन हुआ इसका, करता वह तर्क रहा ।
वह रहा सोचता सूक्ष्म दृष्टि से बार-बार
फिर भी, न किसी निश्चय पर पहुंच सका सहसा ॥ ३३ ॥

लगता, कोई अनजान व्यक्ति आ गया यहाँ
इसलिए, मुझे रोकना चाहिए इसे यहाँ ।
इस भाँति सोचकर वह मच्छानु कि साक्षात्
प्रतिरोध सदृश कपि के समक्ष वह खड़ा हुआ ॥ ३४ ॥

तृण के समान हनुमान समझ कर उसे जबकि
निश्चिन्त रूप से आगे बढ़ने लगे वहाँ ।
पाँव से किया आघात सर्प के तुल्य सहज
मच्छानु उस समय मार्ग रोकता रहा वहाँ ॥ ३५ ॥

उस परम प्रतापी से रोके जाने पर ही
उन दोनों में छिड़ गया भयंकर युद्ध तभी ।
शूरता-वीरता तथा पराक्रम दोनों का
दिख रहा सुनिश्चित अति विचित्र वह साहस भी ॥ ३६ ॥

उस समय छिड़ गया पिता-पुत्र में विकट युद्ध
जिसमें दोनों कर रहे परस्पर थे प्रहार ।

तलौ विनिष्पीड्य क्रुधा परीता-
वुरोनिपीडं परिसङ्गतौ च ।।37।।

चिरं नियुध्यापि यदा न कञ्चि-
दपश्यतां तौ परिहीयमानम् ।
तदा परं विस्मयमभ्युपेतौ
क्षणं नियुद्धाद्विरतौ प्रवीरौ ।।38।।

अन्योन्यमालोकयतां तदा तौ
साम्यं मिथस्तौ समपश्यतां च
भूयोऽप्यतो विस्मयमीयिवांसौ
सम्भाषणे प्रावृततां ततश्च ।।39।।

संरक्षकं पद्मसरोवरस्य
पप्रच्छ तावद्धनुमान् युवानम् ।
को वा भवान् कस्य सुतः कथं च
पराक्रमोऽदृष्टचरो जगत्याम् ।।40।।

नैवाद्य यावत्कठिनाः प्रहाराः
केनापि सोढा इह मे जगत्याम् ।
वायोरिवासह्यतमाऽस्ति शक्ति-
र्ममेति लोकेषु गता प्रसिद्धिः ।।41।।

त्वमेव तावत्प्रथमोऽसि येन
मम प्रहाराः कठिना विसोढाः ।
न केवलं तावदिदं त्वया तु
मय्येव गाढं प्रहृतं प्रवीर ! ।।42।।

भर गये क्रोध में दोनों करतल मींज रहे
जाँघों पर देते ताल भिड़ रहे लगातार ॥ ३७ ॥

इस भाँति चला जब अधिक समय तक द्वन्द्व-युद्ध
दोनों ने देखा नहीं लग रहा कोई कम ।
उस समय वहाँ दोनों विस्मय में पड़े अधिक
इसलिए, युद्ध रुक गया सहज ही कुछ क्षण तक ॥ ३८ ॥

तब रहे देखते एक दूसरे को दोनों
उनमें आपस में दिखी साम्यता सहज रूप ।
यह समझ उन्हें आश्चर्य हो रहा था भारी
तब उनमें संभाषण का बनने लगा रूप ॥ ३९ ॥

उस पद्म सरोवर के संरक्षक युवा पुरुष
से हनूमान् ने पूछी तब तक बात यही ।
'हैं, आप कौन अथवा किसके हैं पुत्र आप
जग में यह कैसे विकट पराक्रम दिखा सही ॥ ४० ॥

आज तक न कोई इस धरती पर हुआ कहीं
जो सह पाया हो मेरा यह भीषण प्रहार ।
वायु की भाँति है शक्ति असहनीया मेरी
त्रिभुवन में ऐसी ही प्रसिद्धि है दुर्निवार ॥ ४१ ॥

बस एक तुम्हीं दिख पड़े मुझे अब सर्वप्रथम
जिसने ऐसे सह लिया कठिन मेरा प्रहार ।
अथवा केवल हो एक तुम्हीं ऐसे सुवीर
जिसके द्वारा मुझ पर है भीषण प्रहार ॥ ४२ ॥

निशम्य वाचोऽस्य तदा प्रवाचो
मच्छानुरेनं प्रहसन्निवोचे ।
कामं भवान्वीर्यवतां वरेण्यो
भवेन्न मेऽग्रे भवतोऽस्ति वीर्यम् ।। 43 ।।

वायोस्तनूजस्य सुतोऽस्म्यहं भो !
हनूमतो लोकसुविश्रुतस्य ।
पुत्र्यां दशास्यस्य पुरा सुवर्ण-
मत्स्याभिधायामभिसम्प्रजातः ।। 44 ।।

न मे पुरः स्थातुमिहात्र शक्तः
शक्तोऽपि लोके क्व भवान् पुनस्तु ।
वायोर्दशास्यस्य च भीषणे द्वे
शक्ती स्थिरे स्तो मयि विद्धि तावत् ।। 45 ।।

श्रुत्वैतदूर्जस्वि वचः सुतस्य
संहृष्टरोमा हनुमांस्तदानीम् ।
अवाप्तसर्वस्व इवातितृप्तो
मच्छानुमूचे वचनं प्रहृष्टः ।। 46 ।।

त्वं मे सुतो वीर ! पिता तवाहं
लोके हनूमानहमेव पुत्र ।
त्वद्दर्शनेनैव सुतृप्तमेहि
मह्यं परिष्वङ्गसुखं प्रदेहि ।। 47 ।।

सत्पुत्रिणां धन्यतमोऽस्मि पुत्र !
यत्त्वादृशो मेऽस्ति गुणी सुपुत्रः ।

कपि की वाणी सुनकर वह बोला शूरवीर
हँसकर कहता मच्छानु नाम मेरा कपिवर।
यह भी निश्चित है एक तुम्हीं हो वीरश्रेष्ठ
पर, मेरे बल-विक्रम समझ तुम शून्य सहज ॥ ४३ ॥

हे कपिवर ! मैं वायु के तनय का पुत्र, वही
जो हनुमान कहलाते हैं लोक में ख्यात।
रावण तनया सुवर्णमत्स्या से किसी समय
था जन्म हुआ मेरा समझो यह सत्य बात ॥ ४४ ॥

जो महाबली है वह न ठहर सकता सम्मुख
फिर, भन्त, आप मेरे समक्ष क्या ठहर सकें।
मुझमें है बंधी वायु की शक्ति, दशानन का
भीषण पौरुष है भरा, इसे विधिवत् समझें ॥ ४५ ॥

पुत्र के वीरता भरे वचन सुन इस प्रकार
हनुमान उस समय हुए अधिक उस पर प्रसन्न।
लग रहा पा गये सब कुछ दिखते परम तृप्त
इसलिए, कहा मच्छानु से होकर प्रसन्न ॥ ४६ ॥

'हे वीर ! तुम्हारा पिता, पुत्र तुम मेरे हो
हे पुत्र ! लोक में मैं ही तो वह हनूमान।
हो गया तृप्त मैं यहाँ तुम्हारे दर्शन से
आकर मेरे कंठ लगो, दो सुख महान् ॥ ४७ ॥

हे पुत्र ! धन्यतम हुआ पुत्रवानों में मैं
हैं मेरे पुत्र तुम्हारे सदृश गुणी सुयोग्य।

आलोकमालोकमहं न तृप्तिं
त्वां यामि कल्पद्रुफलं यथैव ।। 48 ।।

आत्मैव नामात्मज उक्तपूर्वः
श्रुतौ ममात्मैव ततोऽसि वीर ! ।
शौर्यं यथा मे त्वयि तत्तथैव
तथैव रूपं च गुणास्तथैव ।। 49 ।।

प्रभो ! विचित्रैव तवाऽस्ति माया
ऽकस्माद्यया सङ्गमिताविह स्वः ।
इत्येवमुक्त्वा स बभूव तूष्णीं
कपिः प्रहर्षाश्रुभराविलाक्षः ।। 50 ।।

मच्छानुरूप्येनमथो विदित्वा
वायोस्तनूजं पितरं प्रियं स्वम् ।
अप्रार्थितावाप्तफलो विधानाद्
विधेर्बभूवातितरां प्रहृष्टः ।। 51 ।।

याभ्यां भुजाभ्यामभवन् प्रहाराः
सम्पातिता येन भृशं कठोराः ।
ताभ्यां गलच्चेतन एष तात-
मालिङ्गने गाढतमे बबन्ध ।। 52 ।।

पादौ च पस्पर्श गुरोः प्रवीरः
क्षमामिमं चापि भृशं ययाचे ।
अज्ञानहेतोर्बहु कर्म लोके
ऽनौचित्यपूर्णं क्रियते जनेन ।। 53 ।।

अब तुम्हें देखकर बार-बार भी तृप्त न मैं
पा गया यथा कल्पद्रुम का फ़ल भी सुयोग्य ॥ ४८ ॥

शास्त्रों में कहा गया है आत्मा ही होती
पुत्र के रूप में वैसे ही हो पुत्रवीर
जैसा है मेरा शौर्य, अस्तु, वैसा तुम में
है रूप तथा वैसा गुण भी सहज वीर ॥ ४९ ॥

हे प्रभो ! तुम्हारी माया भी कैसी विचित्र
जो अकस्मात् मुझ को निज सुत से मिला दिया।
ऐसा कहकर हो गया शान्त वह हनूमान
जिसके नयनों में हर्षाश्रु भी उमड़ गया ॥ ५० ॥

जानकर उन्हें मच्छानु उस समय तथ्य वही
वायु-पुत्र हैं पिता स्वयं उसके प्रियवर !
इस समय बिना मांगे ही फल मिल गया उसे
भाग्य से हुआ ऐसा इससे वह था प्रसन्नतर ॥ ५१ ॥

जिनकी दोनों बाहों का कठिन प्रहार हुआ
सुत पर पड़ते ही रहे अतीव कठोर घात।
जिनसे चेतनता हुई लुप्त हैं वही यहाँ
यह देख गाढ आलिंगन में भर लिया तात ॥ ५२ ॥

उन महावीर के चरणों का स्पर्श किया
तदनन्तर करता रहा क्षमा याचना अधिक।
बोला—'हे तात ! बिना जाने संसार मध्य,
हो जाते अनुचित कर्म लोग से यहाँ अधिक' ॥ ५३ ॥

उत्थाप्य तं वानरवीरमुख्यः
शिरस्युपाघ्राय च वीरवर्यम् ।
वात्सल्यभाराकुलितान्तरङ्गः
पुनः पुनः सस्पृहमालिलिङ्ग ।। 54 ।।

व्रीडावनम्रः स च तं विनम्र-
भावेन भूयो विनिबद्धभावः ।
अतर्कितावाप्ततदीयसङ्‌गः
समालिलिङ्‌ग प्रणनाम चापि ।। 55 ।।

एवं क्षणौघे कतिचिद् व्यतीते
पितुश्च पुत्रस्य च सङ्गमेन ।
भावस्य चावेग उपेत ईष-
च्छान्तिं सुतः स्वं जनकं बभाषे ।। 56 ।।

प्रयोजनं मेऽत्र समागमस्य
सम्प्रोच्यतां तात ! सुदूरदेशे ।
को वाऽत्र हेतुः किमु वाऽपि साध्यं
क्रिया अपार्था न भवादृशां स्युः ।। 57 ।।

श्रुत्वा वचस्तस्य कपिर्हनूमान्
वृत्तं यथावृत्तममुं जगाद ।
श्रीराममन्वेष्टुमहं प्रवृत्तः
पातालदेशं प्रति सम्प्रयामि ।। 58 ।।

पन्थानमेतस्य कृते वद त्वं
येनाहमेनेन तमभ्युपेयाम् ।

तब वानर वीर प्रमुख ने उसे उठा करके,
चूमा पुत्र का मस्तक बारम्बार वहाँ ।
वात्सल्य भाव में भरा हुआ था हृदय सहज
स्नेहावश आलिंगन भी था किया बार बार वहाँ ॥ ५४ ॥

सुत भी उस समय हुआ था लज्जा से विनम्र
फिर नमित भाव से पितृ-स्नेह में बद्ध हुआ ।
तात के साथ यह अकस्मात् हो गया मिलन
इसलिए, गले लग गया तुरन्त प्रणाम किया ॥ ५५ ॥

इस भाँति कुछ समय बीत गया आलिंगन में
उन पिता-पुत्र के संगम में उस समय वहाँ ।
जब शान्त हो चला प्रेम-भाव का वह प्रभाव
तब पूज्य पिता से वीर पुत्र ने यही कहा ॥ ५६ ॥

'हे तात ! आगमन का है यहाँ प्रयोजन क्या
मुझसे, कहिए, क्या कार्य दूर देश में यहीं ।
है यहाँ कौन-सा हेतु या कि क्या करना है,
आप सदृश जन लक्ष्यहीन हो सकें नहीं ॥ ५७ ॥

पुत्र वचन सुन कर कपिवर वे हनूमान
कह गये पुत्र से जो घटनाएं घटीं वहाँ ।
'मैं रामभद्र के अन्वेषण में हूँ प्रवृत्त
पातालदेश में इसीलिए आ गया यहाँ ॥ ५८ ॥

इसलिए, मुझे निर्देश करो उस पथ का तुम
जिससे उस पर चल उनको पा जाऊँ मैं ।

भवेदनर्थः सति मे विलम्बे
ऽलम्भूष्णुरेतं नहि सोढुमस्मि ।। 59 ।।

मच्छानुराकर्ण्य वचोऽदसीयं
चिन्तां मनस्वी महतीं प्रपेदे ।
कृत्येऽप्यकृत्येऽपि च मूढभावः
सद्यो न निश्चेतुमसौ शशाक ।। 60 ।।

आख्यामि चेन्मार्गमिमं भवेत्स
न्याय्यो न मार्गः प्रति मैयराबम् ।
सम्पोषितोऽहं सुतनिर्विशेषं
येनास्मि बाल्यात्करुणापरेण ।। 61 ।।

नो मार्गमाख्यामि भवेत्तदप्य-
न्याय्यं मदीये जनके प्रियेऽस्मिन् ।
यस्यात्मजोऽहं मम जन्महेतु-
र्यः, सम्भवो यस्य वशान्ममाभूत् ।। 62 ।।

एवं स्थिते किं करवाणि किं वा
ब्रवाणि किं वा खलु चिन्तयानि ।
धर्मस्य लोपो न भवेद्यथा मे
प्रवर्तितव्यं मयका तथाऽत्र ।। 63 ।।

एवंविधां धर्मविरोधशून्यां
बुद्धिं समाधाय समाहितात्मा ।
स्ववाग्मितायाः परमं प्रमाणं
मितं च सारं च वचोऽभ्युवाच ।। 64 ।।

यदि हुआ विलम्ब अनर्थ असम्भावी है
जिसको हे सुत ! न कदापि सहनकर पाऊँ मैं ॥ ५९ ॥

सुनकर उनके इस भाँति वचन मच्छानुवीर
पड़ गया घोर चिन्ता में मानी वीर सहज ।
क्या करें कि अथवा क्या न करें वह बना मूढ़
इसलिए न कुछ निश्चय कर पाया वीर सहज ॥ ६० ॥

यदि इन्हें बता दूँ वह पथ तो यह निश्चित है
फिर मैयराब के प्रति हो पाये न्याय नहीं ।
जिसने मेरा लालन-पालन पुत्रवत् किया
बचपन से ही जिसकी करुणा या कृपा रही ॥ ६१ ॥

यदि नहीं बताऊँ मार्ग इन्हें तो भी निश्चित
अन्याय पिता के प्रति होगा जो मेरे प्रिय ।
जिनका सुत हूँ मैं, जो मेरे जन्म के कारण
जिनके कारण लोक में हुआ मैं सम्भव ॥ ६२ ॥

इस स्थिति में क्या करूँ कि अथवा क्या बोलूँ
अथच इस विषम परिस्थिति में सोचूँ क्या ?
धर्म का लोप जिससे न हो सके अकस्मात्
अनुसरण मुझे करना है उस पंथ का यहाँ ॥ ६३ ॥

इस भाँति धर्म संमूढ बुद्धि को यथा तथा
कर समाधान उसने मन में संकल्प लिया ।
अतएव, वाक्-चातुरी प्रमाणों से युक्ता
संक्षिप्त-सुसीमित वाणी का उच्चार किया ॥ ६४ ॥

प्राप्तो भवान्येन पथाऽत्र तावत्
किं तेन शक्यं न पुनः प्रयातुम् ? ।
परेङ्गितज्ञानफलाढ्यबुद्ध्या
तदाशयं द्रागबुबुधे हनूमान् ।।65।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

उद्धृत्य कमलं सद्यस्तन्नाले स्वमवेशयत् ।
पातयन् स्नेहलुलितां दृष्टिं स्वतनये कपिः ।।66।।

"जिस पथ के द्वारा आप यहाँ तक आये हैं
फिर, बढ़ न सकेंगे उसी मार्ग से आगे क्या" ?
संकेत मात्र से सब कुछ समझें बुद्धिमान्
उसका आशय कपि ने तुरन्त ही समझ लिया ॥ ६५ ॥

पुत्र के अनुराग में कपि मग्न था
दृष्टि बार बार उस पर किया था ।
तब उखाड़ा कमल एक तुरन्त फिर
नाल में उसके प्रवेश सहज किया ॥ ६६ ॥

चतुर्दशः सर्गः

(मैयराबोपाख्यानं पूर्वानुवृत्तम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

तदा प्रवृत्तो गमने हनूमान्
यथाऽध्वनोंऽशं क्रमते तथैव ।
तन्मार्गरोधार्थमुपस्थितोऽभू-
ज्ज्वालावलीढो भयदोऽद्रिरेकः ।।1।।

दृष्ट्वैवमेनं समुपस्थितं स
घोरं मनागप्यविकम्पितः सन् ।
सविग्रहोऽन्योऽद्रिरिवावतस्थे
तृणाय तं वीरवरश्च मेने ।।2।।

शत्रोः प्रयोगोऽयमिति प्रपन्नो
हसन्निवैनं प्रविलङ्घ्य वीरः ।
कार्यैकतानो विगताभिमानो
भूयोऽपि गन्तुं हनुमान् प्रवृत्तः ।।3।।

अध्वानमेष क्रमते पुराऽसौ
यदा तदाऽभूत्प्रकटोऽत्र कश्चित् ।
घनाभ्रवृन्दप्रतिमो विशालो
दुर्दान्त एको द्विरदः कुतश्चित् ।।4।।

चतुर्दश सर्ग

(मैयराबोपाख्यान पूर्वानुवृत्त)

तब हनुमान् जाने के लिए हुए प्रवृत्त
जैसे ही वे कुछ दूर निकल कर गये वहाँ।
उनके पथ में अवरोध हेतु गिरि-भयकारी
अग्नि से युक्त सहसा आ गया समक्ष वहाँ ॥ १ ॥

उस भयकारी गिरि को संमुख देखा ज्यों ही
उनके मन में न तनिक भी उस क्षण कम्प हुआ।
उसके समक्ष वे खड़े हो गये पर्वत-से
वे महावीर थे, तृणवत्-उसको समझ लिया ॥ २ ॥

हनुमान् सहज ही जान गये रिपु का प्रयोग
इसलिए, विहंसते हुए उसे कर लिया पार।
बाधाविहीन होकर वे अपने कार्य हेतु
आगे ही बढ़ने लगे कपीश्वर लगातार ॥ ३ ॥

जैसे ही आगे बढ़े, गये कुछ दूर और
वैसे ही उनके सम्मुख था गज प्रकट हुआ।
वह घने बादलों के समान था अति विशाल
दुर्दान्त-भयंकर किसी ओर से आ पहुंचा ॥ ४ ॥

प्रहर्तुमेनं स यदोद्यतोऽभूत्
तदैव तस्मिन् प्रजहार तीव्रम् ।
वायोः सुतो वायुजवेन चैनं
सम्प्रापयामास यमस्य लोकम् ।।5।।

निहत्य तं यावदभूद्धनूमान्
भूयोऽपि वीरो गमने प्रवृत्तः ।
तावत्कुतश्चिन्मशकावली तं
सम्प्रावृणोत्कृष्णघनावलीव ।।6।।

वात्येव घोरा रजनी तमिस्रा
भयङ्करेवापदिवापतत्सा ।
तया समन्तात् क्षतविक्षतोऽपि
धैर्यं स नो धैर्यधनो मुमोच ।।7।।

कपिप्रवीरो घनया तयाऽभूत्
क्लान्तः शरीरेण न चेतसा तु ।
कांश्चित्क्षणांश्चापि बभूव दृष्टि-
स्तस्यावरुद्धा खलसेवयेव ।।8।।

द्रष्टुं समर्थोऽपि न किञ्चिदेष
घनान्धकारेष्विव दीपहीनः ।
आलोडयामास भुजद्वयेन
जलप्रपूर्णामिव तां स्रवन्तीम् ।।9।।

शतं सहस्रं मशकावलेर्द्राक्
पाणौ गृहीत्वा स विनिष्पिपेष ।

आक्रमण हेतु कपि के ऊपर वह झपटा जब
तब तक कपि ने उस पर आक्रमण किया।
वायु के तन के दृढ़ प्रहार से आहत वह
भयकारी गज सहसा तत्क्षण यमलोक गया ॥ ५ ॥

उस गज का वधकर हनूमान् भी जैसे ही
फिर, आगे बढ़ने के हितार्थ तैयार हुए।
तब तक मशकों का झुण्ड कहीं से हुआ प्रकट
उन हनूमान के संमुख जो बढ़ते आगे ॥ ६ ॥

था विकट प्रभंजन, रजनी अन्धकारमय थी
भयकारी वह आपदा सामने खड़ी वहाँ।
उससे हनुमान हो गये क्षत-विक्षत फिर भी
वे धैर्य धुरंधर थे, न धैर्य का त्याग किया ॥ ७ ॥

उस घोर प्रभंजन से हनुमान् शिथिल कुछ-कुछ
केवल शरीर से किन्तु चित्त से क्लान्त न थे।
कुछ क्षण के लिए दृष्टि उनकी अवरुद्ध हुई
जैसे खल की सेवा से ज्ञानीजन लगते ॥ ८ ॥

कुछ भी न देख पाने में वह कपि था समर्थ
दीप हीन जैसे लगता था घनान्धकार।
आलोड़ित उसने किया भुजाओं से ऐसे
जैसे जल से परिपूर्ण प्रवाहित तीव्र धार ॥ ९ ॥

सैकड़ों-हजारों मशकों का समूह तत्क्षण
अपने हाथों में लेकर उसने मसल दिया।

अल्पेन कालेन च वातवत्सो
घनावलीं वात इवाच्छिनत्ताम् ।। 10 ।।

छित्त्वा च तां सूर्य इवोद्गतः सन्
भूयोऽपि मार्गं समभिप्रपेदे ।
कालेन चाल्पेन च वीर्यवान् स
पातालदेशं समुपाजगाम ।। 11 ।।

सम्प्राप्तमात्रश्च ददर्श तत्र
पातालदेशे रुदतीं स्त्रियं सः ।
यस्या विलापावलिवाक्प्रपञ्चः
सर्वं हि कारुण्यमयं ततान ।। 12 ।।

अभूत्तदा तद्रुदितानुसारी
कपिर्हनूमान् करुणार्द्रचेताः ।
पप्रच्छ चैनां किमिति त्वमेवं
सगद्गदं भामिनि ! रोदिषीह ।। 13 ।।

त्वत्क्रन्दनाकृष्टमना उपेत-
स्त्वामत्र भद्रे ! वद तत्र हेतुम् ।
मदीयसाध्यं यदि किञ्चन स्याद्
ध्रुवं तदर्थं प्रयतिष्य एव ।। 14 ।।

सौम्यां कपेराकृतिमाकलय्य
विश्वासमस्मिन् समुपेयुषी सा ।
असंस्तुताऽप्याह वचस्तमेवं
सौम्याकृतिः प्रत्ययमादधाति ।। 15 ।।

फिर वायुपुत्र ने अल्पकाल में ही उनकी
उस घनावली को वायु-सदृश ही लुप्त किया ॥ १० ॥

उनका विनाशकर सूर्य-सदृश वह उदित हुआ
चल पड़ा पुनः गन्तव्य मार्ग पर महावीर ।
फिर अल्पकाल में चलते-चलते पहुंच गया ।
पाताल देश में पवनपुत्र वह परमवीर ॥ ११ ॥

पाताल देश में जैसे ही वह पहुँचा था
उसने देखा करती विलाप स्त्री वहाँ ।
उसके विलाप के वाक्यों से सारा प्रपंच
उस समय भर गया था करुणा से सहज वहाँ ॥ १२ ॥

करुणा से आर्द्रचित हनुमत् उस समय सहज
नारी के रोदन से विचलित हो गये वहाँ ।
पूछा उससे—'किस कारण तुम इस भाँति देवि !
गद्गद् होकर कर रही रुदन किसलिए यहाँ ॥ १३ ॥

आकृष्ट चित्त हो रहा तुम्हारे क्रन्दन से
आ गया तुम्हारे पास बताओ क्या कारण ?
यदि मुझसे साध्य हो सका तो निश्चित भद्रे !
करके प्रयत्न मैं उसका करूं स्वयं वारण ॥ १४ ॥

करके विचार कवि की सौम्या आकृति का ही
उसने तत्क्षण उस पर सहसा विश्वास किया ।
होती है सौम्या आकृति भी विश्वास योग्य
इसलिए, बिना परिचय उसने ये तथ्य कहा ॥ १५ ॥

स्वसाऽस्मि पातालनृपस्य तावद्
वीरक्वनाख्या विलपाम्यहं भोः ।
कृते तनूजस्य, सुविह्वलाऽहं
सुतः प्रियः सर्वजनस्य नूनम् ।। 16 ।।

प्राणा यदा संशयमापतेयुः
सुतस्य का नाम तदास्ति माता ।
दीर्येत यस्या हृदयं न भद्र !
पुत्रस्य शोको ह्यविषह्य एव ।। 17 ।।

पुत्रोऽस्ति मे वैयविगाख्य एको
यं हन्तुमिच्छत्यथ मैयराबः ।
भ्राताऽपि सन्मे सुतरां कुबुद्धि-
रन्याय्यमस्मिन् प्रविवृत्सतीह ।। 18 ।।

उष्णोदकापूर्णमिदं विधातुं
कुण्डं पुरस्तान्निहितं विशालम् ।
चाण्डालवच्चण्डहृदा प्रदिष्टा
भ्रात्रैव मे सम्प्रति मन्ददिष्टा ।। 19 ।।

कुल्येव दीर्घाकृति कुण्डमत्र
दन्दह्यमानं ज्वलितेन्धनेन
बाष्पावलिं मद्गतबाष्पतुल्या-
मुन्मुञ्चति क्रूरहृदः प्रतीकम् ।। 20 ।।

रामं तथा मत्तनयं च भद्र !
प्रक्षिप्य हा ! तत्र च सम्पचय्य ।

'पातालनरेश्वर की मैं बहन नाम मेरा
हैं वीरवक्वना भद्र ! रुदन कर रही यहाँ।
सब को अपना सुत निश्चित ही प्रिय होता है
मैं उसी पुत्र के लिए विह्वला बनी यहाँ ॥ १६ ॥

जब उसी पुत्र के प्राण पड़ गये संकट में
तब, भला कौन हो सकती है ऐसी वह माँ ?
पुत्र का शोक तो असहनीय ही होता है
इसलिए, न हृदय विदीर्ण हुआ, कैसी वह माँ ॥ १७ ॥

वह वैयविगाख्य पुत्र है मेरा एकमात्र
जिसके वध का इच्छुक है मैयराब ऐसा।
वह भाई है मेरा पर, उसमें है कुबुद्धि
फिर भी, सुत के अनिष्ट हित तत्पर है सहसा ॥ १८ ॥

है तप्त वारि से पूर्ण कुण्ड जो बना हुआ
सामने दिख रहा जो विशाल इस समय भद्र !
भ्राता मेरा चाण्डाल रूप इसलिए, मुझे
आदेश दिया है ऐसा सम्प्रति यहाँ भद्र ! ॥ १९ ॥

यह कुण्ड है एक विशाल आकृति के तुल्य यहाँ
जलते इन्धन से और अधिक है दह्यमान।
जो भाप निकलती इससे, मेरे अश्रुसदृश
मेरे इस भाई के निष्ठुर हृद् के समान ॥ २० ॥

हे भद्र ! राम के साथ पुत्र मेरा भी वह
इस तप्तकुण्ड में सहज पचाये जायेंगे।

घोरेण तावद्विधिना नृशंसो
जिघांसति द्वौ सममेव पापः ।। 21 ।।

श्रुत्वा गिरं श्रोत्रयुगस्य शूलं
स्वकार्यसिद्धौ त्वरितो मनस्वी ।
कपिर्हनूमान् समुवाच वाचं
वीरक्वनां तां वदतां वरेण्यः ।। 22 ।।

वशं शुचस्त्वं नहि याहि भद्रे !
नैवं कदाचिद् भवितेत्यवेहि ।
तदन्तकोऽहं समुपस्थितस्तं
मृत्योर्वशं शीघ्रमहं नयामि ।। 23 ।।

त्वं ब्रूहि तावत् क्व नु मैयराबो
मां प्रापय त्वं समया च तं द्राक् ।
दुर्दान्तमेनं निकषाऽन्तकं स्व-
शक्त्या ऽऽपयिष्याम्यचिरेण भद्रे! ।। 24 ।।

श्रुत्वाऽदसीयं वचनं बभाषे
वीरक्वना नो सुकरं तदस्ति ।
गम्यं भवेत्तत्र तु तोरणेन
संरक्षितं दानववीरमुख्यैः ।। 25 ।।

संस्थापिता किञ्च तुलास्ति तत्र
यस्यां समारोप्य कठोररूपाः ।
प्राग् रक्षकास्तोरणतः प्रवेशात्
मां तोलयेयुर्विधिरत्र तादृक् ।। 26 ।।

चाण्डाल हृदय उस पापी के द्वारा दोनों
इस भाँति साथ ही ऐसे मारे जायेंगे ॥ २१ ॥

सुनकर उसके ये वचन कान से शूल तुल्य
निज कार्य सिद्धि के हेतु मनस्वी हनुमान्।
उस वीरक्वना-वचन के उत्तर में तत्क्षण
कह उठे कपीन्द्र श्रेष्ठ उससे वे हनुमान् ॥ २२ ॥

'इस भाँति शोक के वशीभूत मत बनो देवि !
ऐसा समझो यह हो सकता है नहीं कभी।
मैं उसका काल स्वरूप उपस्थित हूँ भद्रे !
यमलोक उसे पहुँचाता हूँ मैं शीघ्र अभी ॥ २३ ॥

तुम मुझे बता दो, कहाँ इस समय मैयराब ?
उसके समीप मुझको पहुँचाओ शीघ्र देवि !
दुर्दान्त भले, वह है, अपनी शक्ति से स्वयं
उसको यमपुर ले जाऊँगा मैं शीघ्र देवि ॥ २४ ॥

कपिवर के सुनकर वचन कह रही वीरक्वना
'हे भद्र ! न इतना सरल पहुँचना सहज वहाँ।
तोरण से बने द्वार से जाना है संभव
जिसकी रक्षा में डटे राक्षस वीर वहाँ ॥ २५ ॥

साथ ही, वहाँ पर तुला एक संस्थापित है
जिस पर कठोर दानव मुझ को आरोपित कर।
वहाँ प्रवेश के पूर्व सुरक्षक तोरण के
तौलेंगे मुझ को भलीभाँति वे सब उस पर ॥ २६ ॥

मनागपीमे च यदि प्रपन्ना
भारातिरेकं मम ते तदानीम् ।
न केवलं मां नहि वञ्चयेयु-
स्तत्र प्रवेशादपि तु प्रहण्युः ।।27।।

न मेऽस्ति चिन्ता निजजीवितस्य
त्वदर्थमेवास्मि विचिन्तिताऽहम् ।
मया समं भोस्त्वमपि प्रणाशं
यातासि चिन्तेति मनो दुनोति ।।28।।

प्रोचे कपिस्तामयि मा चिचिन्तो
भवेदनिष्टं न च मे न ते च ।
मां प्रापय त्वं स्थलमाशु तत्ते
यत्राग्रजस्तिष्ठति मैयराबः ।।29।।

श्रुत्वाऽदसीयं वचनं विषण्णो-
पायान्तरं नैव च वीक्षमाणा ।
वातेरिता नौरिव साऽवशा स्व-
स्योवाच भद्रोमिति तं कपीन्द्रम् ।।30।।

कार्येऽभ्युपेते प्रमना हनूमान्
अम्भोजतन्तुप्रतिरूपकोऽभूत् ।
भारो न वर्धेत तुलाधिरोपे
वीरक्वनाया इति बद्धबुद्धिः ।।31।।

एवं परीवृत्तनिजस्वरूपं
कपिं समादाय मनस्विनी सा ।

यदि उनका निश्चय हुआ उस समय तनिक भद्र !
बढ़ रहा भार मेरा पहले से अधिक वहाँ।
तो यही नहीं मेरा प्रवेश हो सके नहीं
प्राणों से भी धोना होगा जब हाथ वहाँ ॥ २७ ॥

मुझको अपने जीवन की चिन्ता नहीं तनिक
इस समय तुम्हारे लिए मुझे चिन्ता भारी।
हे भद्र ! हमारे साथ तुम्हारा भी विनाश
बस, यही एक मेरे मन की चिन्ता भारी ॥ २८ ॥

तब बोले हनुमत्—'करो नहीं मेरी चिन्ता
मेरा अथवा तेरा अनिष्ट होगा न कभी।
इसलिए, मुझे पहुँचाओ तुम अतिशीघ्र वहाँ
वह मैयराब तव अग्रज बैठा जहाँ अभी ॥ २९ ॥

कपि की बातें सुन वीरक्वना उदास हुई
इस समय उसे कोई उपाय दिख रहा नहीं।
झांझा के मध्य पड़ी नौका-सी विवशा वह,
बोली कपीश से—'भद्र ! ठीक है युक्ति यही ॥ ३० ॥

थे समझ गये हनुम्गन् कार्य हो गया सिद्ध
इसलिए, हो गए कमल-तन्तु का रूप सहज।
भार भी तुला पर इस नारी का बढ़े नहीं
कपिवर ने ऐसा समझ लिया उस समय सहज ॥ ३१ ॥

इस भाँति कर लिया परिवर्तित स्वरूप कपि ने
वह मनस्विनी वीरक्वना कि उनको लेकर।

अत्यन्तगुप्तं दनुजाग्रयोधैः
सीमन्तिनी तोरणमाजगाम ।। 32 ।।

उवाच योधान् उपसत्तुमिच्छा
कार्येण केनापि ममाग्रजं भोः ।
अतोऽनुजानन्तु मम प्रवेशं
द्राक् तोरणादत्र विशालरूपात् ।। 33 ।।

त ऊचुरेनां विदितस्तवास्ति
विधिः प्रवेशस्य तमेव भद्रे ! ।
राज्ञा कृतं त्वं परिपालयस्व
तुलाधिरोहं प्रथमं तनु त्वम् ।। 34 ।।

भवत्विदं तावदिति प्रपन्ना
स्मृत्वा प्रपन्नार्तिहरं हरं सा ।
सीतेव वह्निं परिदीप्यमानं
वीरक्वना तत्र तुलां रुरोह ।। 35 ।।

आरूढवत्यां तु तुलातिभारा-
त्पस्पर्श भूमिं दनुजास्ततस्ते ।
शङ्कापरीताः सुतरां च भीता
नैवान्वजानन् गमनं रमण्याः ।। 36 ।।

ततोऽन्वसावुत्कुरुते[1] स्म तत्र
भटान् अहो ! मूढधियो भवन्तः ।
जीर्णा तुलेयं भवतामिहास्ति
विश्वासपात्रं नहि चाहमस्मि ।। 37 ।।

1. उत्कुरुते स्म अभर्त्सयदित्यर्थः । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञ (1.3.32) इत्यनेनावक्षेपणार्थ आत्मनेपदम् । अवक्षेपणं भर्त्सनम् ।

अत्यन्त गुप्त दानववीरों से घिरे हुए
जा पहुँची तोरण द्वार निकट वह तदनन्तर ॥ ३२ ॥

बोली दानव वीरों से 'किसी प्रयोजन वश
मुझ को अपने अग्रज से मिलना है वीरो !
मेरे प्रवेश की अनुमति दे दो इसी समय
इस वृहत्-द्वार तोरण से यहाँ तुरत वीरो ॥ ३३ ॥

वे बोले 'भद्रे ! तुम्हें विदित हैं नियम सभी
जो हैं प्रवेश के लिए यहाँ से समझो तुम ।
राजा की आज्ञा का परिपालन करने में
सबसे पहले चढ़ जाओ तुला मध्य ही तुम' ॥ ३४ ॥

'ऐसा ही हो' यह निश्चय करके देवी वह
दुःखहर्त्ता शिव का उसने था स्मरण किया ।
ज्यों दीप्त अग्नि में सीता सहज प्रविष्ट हुईं
वैसे ही वह चढ़ गयी तुला पर सहज वहाँ ॥ ३५ ॥

जब चढ़ी तुला पर, अधिक भार से तुला तभी
छू गयी भूमि को, अस्तु, दनुज चौंकते वहीं ।
इसलिए, बढ़ी शंका, भयभीत हुए दानव
इसका प्रवेश इस समय यहाँ हो सके नहीं ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वह कर उठी भर्त्सना—'हे मूढ़ो ।
तुम महामूर्ख हो, तभी, समझते तथ्य नहीं ।
इस समय तुला यह जीर्ण हो चुकी है, फिर भी
विश्वासपात्र में ही क्योंकर अब रही नहीं ॥ ३७ ॥

दोषोऽत्र यद्यस्ति भवेत्तुलाया
एवेति सर्वैरवधारणीयम् ।
न मेऽत्र दोषोऽस्ति तथाऽपि शङ्का
यद्यस्ति तर्ह्यस्मि परीक्षणीया ।। 38 ।।

एवं भवत्वित्यभिधाय तस्याः
सम्यक् परीक्षां खलु ते प्रचक्रुः ।
न वस्तु चास्यां विविदुस्तु किञ्चिद्
यद् भारमस्याः परिवर्धयेत ।। 39 ।।

परीक्षणे दृष्टिपथं प्रयात
आसीदमीषां कमलस्य तन्तुः ।
अपार्थकं वस्त्विदमित्यमीषां
बुद्धिस्तदा तद्विषये प्रवृत्ता ।। 40 ।।

अपास्य तद्विस्मयपारवश्यं
गता अलब्ध्वा नहि वस्तु तादृक् ।
भारस्य येनातिविवर्धनं स्यात्
तामन्वजानन् गमनाय योधाः ।। 41 ।।

अम्भोजसूत्राकलितस्वरूप-
स्तामन्वयासीद्धनुमान् कपिश्च ।
प्राप्तश्च तत्रैव सह स्त्रिया स
यत्र स्थितोऽभूत्खलु मैयराबः ।। 42 ।।

मृत्योर्मुखान्मुक्तममुं कपिं सा
ऽऽनन्दस्य कोटिं परमां प्रयाता ।

यदि इसमें दोष तुला का ही दिख रहा सहज
तो यही तथ्य मानना चाहिए, उचित यहाँ ।
है दोष न मेरा इसमें फिर भी, शंका यदि
तो मेरा कर लो तुरत परीक्षण सभी यहाँ ॥ ३८ ॥

'ऐसा ही होगा' कहकर सबने उसी समय
उस देवी का था किया परीक्षण विधिवत् ही ।
पर, मिली न कोई वस्तु पास में जिससे कि
उसके शरीर का भार बढ़ गया निश्चित ही ॥ ३९ ॥

उस परीक्षण के समय दिखाई पड़ा उन्हें
वह कमल तन्तु जो उसके साथ ही था वहाँ ।
पर, यह तो बिना काम की वस्तु निरर्थक है
उस समय उन्होंने केवल यही विचार किया ॥ ४० ॥

फिर भी, उनको विस्मय अवश्य था हुआ अधिक
कारण, उनको मिल सकी न वैसी वस्तु वहाँ ।
जिससे कि भार इस देवी का बढ़ गया सहज
कुछ समझ न पाये अस्तु, गमन के लिए कहा ॥ ४१ ॥

उस कमल सूत्र के ही स्वरूप में हनुमान्
कपिवर चलते ही उस के साथ-साथ ।
अन्ततः उस स्त्री के पीठे चलते-चलते
वे पहुंचे वहाँ, जहाँ बैठा था मैयराब ॥ ४२ ॥

उन्मुक्त मुत्यु के मुख से कपि को देख सहज
वह देवी वीरक्वना परम आनन्द मग्न ।

तत्राऽनयद्यत्र विशालरूपं
तालद्रुमैरन्तरितं समन्तात् ।।43।।

विनिर्मितञ्चायसशृङ्खलाभिः
सुरक्षितं पञ्जरमेकमास्त ।
यस्मिन्नतिष्ठित् खलु मैयराब-
स्यात्मा शरीरात्पृथगेव तस्य ।।44।।

प्रभञ्जनापत्यवरो हनूमान्
वेगेन तत्पञ्जरमाबभञ्ज ।
विनिष्पिपेषाथ च मुष्टिभिस्तम्
आत्मानमात्मप्रतिपन्नरूपः ।।45।।

अतीव तद्दुष्करमेष कार्यं
संसाध्य वीरो ननु हेलयैव ।
उपस्थितस्तत्र बभूव यत्र
सन्दानितो दाशरथिर्बभूव ।।46।।

आलोक्य तं साश्रुरभूत्कपीन्द्र-
स्तुषारवर्षीव सहस्यमेघः ।
कार्यातिपातं परिहर्तुकामः
क्षणेन वीरः समयंस्त च स्वम् ।।47।।

ततो महानद्रिरिव प्रमाथी
पातालराजस्य पुरः स्थितोऽभूत् ।
कपिः प्रभू रुद्र इवान्तकाले
तद्रूपमापन्न इवान्तको वा ।।48।।

लेकर आयी हनुमत् को वृहत् पंजर समीप
जो सभी ओर से ताल द्रुमों से वहाँ लग्न ॥ ४३ ॥

जो बनी हुई थी सुदृढ़ लौह जंजीरों से
जिसमें दिख रहा सुरक्षित पंजर एक वहाँ ।
थी मैयराब की आत्मा उसके अन्दर ही
जो उस दानव की काया से थी अलग जहाँ ॥ ४४ ॥

उस समय प्रंभजन सुत हनुमत् ने अकस्मात्
अत्यन्त वेग से उस पंजर को तोड़ दिया ।
हनुमान् प्रकट होकर अपने स्वरूप में अब
मुट्ठी में दानव की आत्मा को पकड़ लिया ॥ ४५ ॥

यद्यपि यह कार्य दिख रहा था अत्यन्त कठिन
फिर भी कपि ने था सहज रूप से साध लिया ।
तदनन्तर, आये वहां जहां इस समय राम
दशरथनन्दन बन्धन में पड़े कि व्यथित यहाँ ॥ ४६ ॥

देखकर दसा उनकी कपि की आखें सहसा
पौष के मेघ के सदृश अश्रु से परिपूरित ।
कर्त्तव्य मार्ग में इससे बाधा, यही सोच
कुछ क्षण में वह हो उठा संयमित ही समुचित ॥ ४७ ॥

तदनन्तर देखा विशाल पर्वत के समान
पातालराज सामने रहा बैठा ऐसे ।
कपि भी सहसा बन प्रलय का रुद्र रूप
लग रहा सहज साक्षात् काल वह है जैसे ॥ ४८ ॥

तमाह्वयामास नियोद्धुकामो
बलाद् बली बालिशबुद्धिमेनम् ।
आह्वानमेतस्य न मृष्यमाणः
सोऽमर्षणो द्रागभवत् सुसज्जः ।। 49 ।।

उज्झाञ्चकार स्वमथासनं स
भीमं च हुङ्कारमवाससर्ज ।
स सृक्किणी चापि लिहन्बभूव
प्रोच्छूनरक्तायतनेत्रयुग्मः ।। 50 ।।

हसन् बभाषे कपिमेष मे त्वं
कोपाग्निमेतः शलभो यथैव ।
भस्मीभविष्यस्यचिरेण तेन
मच्छक्तिसञ्ज्ञापरिशून्यकत्वात् ।। 51 ।।

कापेयमेतन्मम यत् पुरस्त्वं
स्थितो नियुद्धं ननु याचसे माम् ।
अपेहि तद्दूरमितः प्रयाहि
प्राणाः प्रियास्ते यदि सन्ति कच्चित् ।। 52 ।।

किं मादृशा वीरवराः कदाचित्
प्रत्यर्थिसार्थं प्रविजेतुकामाः ।
नियुध्य तावत्कपिना विशुद्धां
कीर्तिं स्वकामाविलयन्ति लोके ? ।। 53 ।।

पातालराजेन दिगन्तराल-
विश्रान्तिमद्विश्रुतकीर्तिभाजा ।

उसने ललकारा दानव को संग्राम हेतु
वह राक्षस जो था महामूर्ख या बुद्धिहीन।
ललकार सहन करना था उसके लिए कठिन
इसलिए, क्रोधवश तुरत हुआ तत्पर प्रवीण ॥ ४९ ॥

वह अपने आसन से था उठकर खड़ा हुआ
तदनन्तर अति ऊंचे स्वर में हुंकार किया।
जीभ से चाटता हुआ क्रोध से अधर तभी
उसकी दोनों आँखों में शोणित प्रकट हुआ ॥ ५० ॥

वह बोला हँसता हुआ कपीश्वर हनुमत् से—
तुम मेरे कोपानल में दिखते शलभ तुल्य।
बस, कुछ ही क्षण में भस्म स्वयं हो जाओगे
मेरे अपारबल के परिचय से तुम्हीं शून्य ॥ ५१ ॥

वस्तुतः तुम्हारा कपि-स्वभाव यह है जिससे
मेरे समक्ष रण हेतु मुझे ललकार रहे।
यदि तुम्हें प्राण हैं प्रिय कुछ भी तो इसी समय
तुम हटा यहां से दूर चले जाओ कपि हे ! ॥ ५२ ॥

क्या मेरे जैसे महावीर जो युद्ध-मध्य
जय की इच्छा करते हैं महायौद्धा पर।
अपने विशुद्ध यश का विलोप कर सकते हैं
वे अनायास फिर साधारण कपि से लड़कर ॥ ५३ ॥

पातालराज की विमल कीर्ति व्यापक जग में
जिसके यश की चर्चा फ़ैली है दिग्दिगन्त।

कपिर्नियुद्धे हत इत्ययं मे
'मा भूत्परीवादनवावतारः' ।। 54 ।।

अपेहि तत्त्वं प्रददामि तेऽहं
भिक्षामसूनां नहि मे प्रियास्ते ।
पात्रं दयाया असि नैव तिर्यग्-
योनिं गता मे प्रतिरोधमर्हाः ।। 55 ।।

श्रुत्वाऽदसीयं वचनं विहस्य
कपिर्बभाषे किल मैयराबम् ।
विकत्थसे त्वं बहु मैयराब!
विकत्थना नैव भवन्ति शूराः ।। 56 ।।

जातोऽस्म्यहं दैववशेन तिर्यग्-
योनौ ममात्रास्ति वशो न मूढ ।
जन्मादि दैवेऽधि न पौरुषं तु
तन्मय्यधीत्येव गृहाण तावत् ।। 57 ।।

प्रभञ्जनस्यास्मि सुतः प्रसिद्धो
लोकेषु वज्राङ्गबली हनूमान् ।
भङ्क्ष्यामि ते संहननं विशालं
मृणालदण्डं द्विरदो यथैव ।। 58 ।।

सञ्जातमात्रोऽपि सहस्ररश्मे-
रास्वादनायोत्प्लुत आसमद्धा ।
फलाभिसन्धिं प्रविधाय तस्मिन्
शौर्यस्य गाथां विवृणोति मे तत् ।। 59 ।।

वानर का वध मेरे हाथों से हुआ इसे
समझो, मेरे उस यश का भी हो गया अन्त ॥ ५४ ॥

तुम हटो यहाँ से प्राणों की भिक्षा पाकर—
जिसकी मुझको कुछ भी इच्छा है यहाँ नहीं।
रे वानर ! तुम हो पात्र दया के, साथ-साथ
जो पशु हैं उनसे मेरा है प्रतिरोध नहीं ॥ ५५ ॥

पातालराज के सुनकर ऐसे वचन स्वयं
हनुमत् बोले तब मैयराब से यो हँसकर।
'हे मैयराब !' तुम बढ़-बढ़कर बोलते अधिक
पर नहीं कहाते सूर बोलते जो बढ़कर ॥ ५६ ॥

हे मूढ ! दैववश मेरा जन्म हुआ तिर्यग्—
यानि में, किन्तु इसमें मेरा कुछ जोर नहीं।
पौरुष पर मेरा है अधिकार यही समझो
जन्म पर दैवि-अधिकार कि पौरुष पर न कहीं ॥ ५७ ॥

मैं पुत्र प्रभंजन का मुझको जानते सभी
वज्रांगबली हनुमान् लोक जानते इसे।
जो है विशाल यह देह, तुम्हारी तोड़ूं मैं
गजराज करेगा भंग मृणालदण्ड जैसे ॥ ५८ ॥

मैं ज्यों ही पैदा हुआ समझ कर फल रवि को
आस्वादन की, इच्छा जागी मन में सहसा।
तत्काल सूर्य को निगल गया मैं, इसीलिए
मेरे विक्रम का यशोगान जग में ऐसा ॥ ५९ ॥

अलं बहूक्तैरथवाऽत्र शक्तिं
नियोधने त्वं मम विद्धि साक्षात् ।
हस्ते स्थिते नैव हि कङ्कणे स्यात्
कस्याऽप्यपेक्षा मुकुरस्य तावत् ।। 60 ।।

पातालराजो निशितैः समन्ताद्
हनूमतो वाग्विशिखैः प्रविद्धः ।
क्रोधेन जज्वाल तदाज्यधारा-
सारैः समिद्धो हुतभुग् यथैव ।। 61 ।।

ततः समादाय कपिं स दोर्भ्यां
बलाद्विनिष्पेष्टुमियेष दुष्टः ।
कपिस्तरस्वी तरसा च तं द्राक्
सम्पातयां भूमितले बभूव[1] ।। 62 ।।

समारुरोहाथ च तस्य वक्षो
विनिष्पिपेषाथ च तत्समन्तात् ।
नखैश्च तीक्ष्णैर्नखिनां वरेण्य
'उरोविदारं प्रतिचस्करे च' ।। 63 ।।

उन्मोच्य हस्ताद् दृढया स्वशक्त्या
हनूमतो दानवराजमुख्यः ।
कोपारुणाक्षः पुनरेव तावत्
तमभ्यधावद्विनिहन्तुकामः ।। 64 ।।

ततोऽतिभीमं ववृते नियुद्धं
दुर्दान्तयोस्तत्र परस्परेण ।

1. तं पातयां प्रथममास पपात पश्चादितिकालिदासीयप्रयोगवदेवायं प्रयोगः ।

अथवा अब यहाँ अधिक कहने से लाभ न कुछ
साक्षात् द्वन्द्व में समझो मेरी बलवत्ता।
हाथ में पहन रखा हो कंकण जिसने
दर्पण में उसे देखने की क्या आवश्यकता ॥ ६० ॥

हनुमत् की वाणी रूपी शर से था प्रविद्ध
पातालराज भी सभी ओर से अति आहूत।
क्रोध से जल उठा वह दानवपति इस प्रकार
जलती हो जैसे अग्नि पड़े समिधा का घृत ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उस खल ने कपि को निज बाहों से
था पकड़ लिया कसकर उसको उस समय शीघ्र।
कपि ने भी तत्परता से दानवपति को तब
धरती के ऊपर पकट दिया था यथाशीघ्र ॥ ६२ ॥

पश्चात् चढ़ गया उसके वक्षःस्थल पर वह
उसके सारे शरीर को उसने नोच लिया।
मखवालों में वह श्रेष्ठ तीव्रतर मख से ही
उस राक्षस का वक्ष भी तुरंत विदीर्ण किया ॥ ६३ ॥

हाथ से छुड़ाकर सुदृढ़ शक्ति से अपने को
हनुमत् से वह पातालराज दानव प्रधान।
क्रोध से रक्तिम थे नेत्र तभी वह दैत्य पुनः
दौड़ा कपि का वध करने को करके निदान ॥ ६४ ॥

तदनन्तर था संग्राम भयंकर छिड़ा वहाँ
दोनों थे अति दुर्दान्त परस्पर भिड़े वहाँ।

नैव श्रुतं वा न च वा कथञ्चिद्
दृष्टं भवेल्लोमविहर्षणं यत् ।। 65 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

दण्डादण्डि मुष्टीमुष्टि दन्तादन्ति कचाकचि ।
हनुमन्मैयराबौ तौ न्ययुद्ध्येतां परस्परम् ।। 66 ।।

सर्वं पाताललोकं तन्नियुद्धं समकम्पयत् ।
द्रष्टुं भूतगणाः सर्वे नानादिग्भ्यो यदागताः ।। 67 ।।

तालवृक्षान्समुत्पाट्य प्रजह्रे हनुमान् रिपौ ।
अहतश्चाक्षतश्चापि सोऽवातिष्ठत दानवः ।। 68 ।।

ततो वीरक्वना प्राह हनूमन्तमिदं वचः ।
लब्धोऽनेन वरो भद्र! येन हन्तुं न शक्यते ।। 69 ।।

प्रथमं यावदात्माऽस्य हन्यते नहि केनचित् ।
तावद्धन्तुं न शक्योऽयं देवैरपि कदाचन ।। 70 ।।

यावद्धनूमानशृणोदिमा वीरक्वनागिरः ।
तावद्विराट्स्वरूपं स्वं विततान महाकपिः ।। 71 ।।

क्षणेन च त्रिकूटाख्यं पर्वतं समुपेयिवान् ।
भृङ्गरूपं समापन्नं तदात्मानमवैक्षत ।। 72 ।।

समापत्य च तं तावद्धृत्वा चात्मकरे कपिः ।
तत्क्षणं मुष्टिनिष्पेषं निष्पिपेष हसन्निव ।। 73 ।।

तस्मिन्पिष्टे मैयराबो निःसञ्ज्ञो भूतलेऽपतत् ।
अलुठद् दीनवच्चापि दशकण्ठसखः शठः ।। 74 ।।

वह लोमाविद्धर्षण दृश्य युद्ध का किसी समय
देखा न कहीं अथवा न कहीं भी सुना गया ॥ ६५ ॥

लड़ रहे परस्पर मैयराब हनुमान् दन्त से दन्त भिड़े ।
मुष्टि से मुष्टि केश से केश डण्डे से डण्डा लिये लड़े ॥ ६६ ॥

सारा पातालालोक उनके युद्ध से काँपने लगा वहाँ ।
देखने जिसे नाना दिक् से आ गये भूतगण सभी वहाँ ॥ ६७ ॥

कपि ने उखाड़ कर तालवृक्ष उस मैयराब पर डाल दिया ।
फिर भी न मर सका दानव वह जैसे का तैसा खड़ा दिखा ॥ ६८ ॥

तब वीरक्वना कह उठी थी हनुमत् से ऐसे वचन-भद्र !
इसको वरदान मिला ऐसा जिससे मर सकता नहीं भद्र ! ॥ ६८ ॥

जब तक इसकी आत्मा प्रथम मारी जा सकती भद्र ! नहीं ।
तब तक देवों से भी कदापि इसका वध तो हो सके नहीं ॥ ७० ॥

ये वीरक्वना-वचन सहसा कपि ने था सुना वहाँ जब तक ।
हनुमत ने भी अपना स्वरूप कर लिया विराट सहज तब तक ॥ ७१ ॥

क्षण भर में त्रिकूट पर्वत पर जा पहुँचे हनुमान् स्वयं ।
भृग के रूप में देखी तब आत्मा दैत्य की वहां स्वयं ॥ ७२ ॥

आक्रमण किया कपि ने उस पर हाथ में उसे था पकड़ लिया ।
तत्काल दबाकर मुट्ठी में हँसकर कपि ने था मसल दिया ॥ ७३ ॥

उसके मसले जाते ही वह भूमि पर गिरा अचेत होकर
रावण का सखा दुष्ट दानव था लुढ़का वहाँ दीन होकर ॥ ७४ ॥

एवं निहत्य तं दैत्यं रामं मुक्तं विधाय च ।
अपनिन्ये स तं स्थानात्तस्मात्प्रीतः कपीश्वरः ।। 75 ।।

(स्वागतावृत्तम्)

खं च तेन सममुत्प्लवमान-
स्तं निनाय शिबिरं स्वमथैषः ।
हर्षवर्षमतुलं परिवर्षन्
विह्वलाकुलितबन्धुजनेषु ।। 76 ।।

इस भांति दैत्य का वध करके कपि ने राम को विमुक्त किया।
हर्षित हमुमत् ने उनको तब पाताल लोक से अलग किया ॥ ७५ ॥

आकाश मार्ग से ले उनको,
पहुंचाया था बस शिविर-मध्य
हर्षित हो उठे सभी,
अब तक व्याकुल थे सारे बन्धु-मध्य ॥ ७६ ॥

पञ्चदशः सर्गः

(कुम्भकर्णवधोपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

अजेयो मैयराबोऽपि केनाप्यन्येन हन्यते ।
अकल्पनीयं तदभूद्दशकण्ठस्य सर्वथा ।।1।।

प्रेतलोकं गते तस्मिन् कुम्भकर्णं गताऽभवत् ।
अजेयविक्रमं वीरं मतिस्तस्य दुरात्मनः ।।2।।

अवश्यं स महावीरो रामवार्त्यां निवारयेत् ।
रक्षेल्लङ्कां स्ववंशं चेत्यास्त तस्य दृढा मतिः ।।3।।

यद्यपि कुम्भकर्णोऽभूज्जन्मना राक्षसो ध्रुवम् ।
तथापि कर्मणा नासीत्तादृशः स कथञ्चन ।।4।।

प्रकृत्या धर्मभीरुः स सीताया हरणं नहि ।
अमन्यतोचितं धीरः कुत्स्यं तदिति धारयन् ।।5।।

तद्बुद्धिभेदं जनयन् दशकण्ठस्तुतोद तम् ।
अतीव निशितैर्वाक्यैस्तं भीरुरिति कीर्तयन् ।।6।।

ओतोर्दर्शनमात्रेण यथाऽऽखुं भयमाविशेत् ।
तथैव समवस्था ते वृथा वीर्याभिमानिनः ।।7।।

पञ्चादश सर्ग

(कुम्भकर्णवधोपाख्यान)

यद्यपि अजेय था मैयराब जाने किससे वह वधा गया।
रावण के लिए अकल्पनीय सर्वथा तथ्य दिख पड़ा वहाँ ॥ १ ॥

उसके मरने के बाद स्वयं, वह कुम्भकर्ण के पास गया।
जो है अजेय विक्रमी वीर उस खल ने निश्चय यही किया ॥ २ ॥

राम के प्रभंजन से निश्चित, वह वीर उबार सकेगा ही।
ऐसा विचार दृढ़ हुआ सहज रक्षित होगा कुल, लंका भी ॥ ३ ॥

था कुम्भकर्ण जन्म से यद्यपि राक्षस सन्देह नहीं।
फिर भी कुम्भकर्ण कदापि इस भांति कर्म से असुर नहीं ॥ ४ ॥

वह था स्वभाव से धर्म भीरु सीता का हरण लगा अनुचित।
यह था कुकृत्य इसलिए कभी उसने इसको माना न उचित ॥ ५ ॥

बुद्धि में भेद उपजाने को रावण ने कटु व्यवहार किया।
डाँटकर परूष वाक्यों से ही उसको कायर या भीरु कहा ॥ ६ ॥

जैसे विडाल को लख मूषक भय के मारे काँपता सहज।
है यही तुम्हरी दशा, व्यर्थ कहलाते हो तुम वीर सहज ॥ ७ ॥

व्याघ्रस्य गन्धमात्रेण यथा हरिणको भवेत् ।
आकुञ्चितसमस्ताङ्गस्तदवस्थाऽस्ति ते स्थितिः ।।8।।

काकस्य दूरतो दृष्टिं धनुष्यापतितेऽथवा ।
यादृशी स्यात्स्थितिर्भीरो ! तादृश्यस्ति तव स्थितिः ।।9।।

तुन्न एवंविधैर्वाक्यैः कुम्भकर्णोऽतिवीर्यवान् ।
सम्मानं रक्षितुं भ्रातुर्युद्धाय समनह्यत ।।10।।

शक्तिं गृह्णन् करेणासौ शत्रूणां भयवर्द्धिनीम् ।
सैन्येन महता युक्तो रामं योद्धुं विनिर्ययौ ।।11।।

तं ददर्श समायान्तं महत्या सेनया युतम् ।
साक्षाद्रुद्रमिव क्रुद्धं दूराद् भ्राता विभीषणः ।।12।।

अनिवार्यं स मत्वा तं यथा गिरिणदीजलम् ।
सौम्यैरभूद् वचोभिस्तं निवर्तयितुमुद्यतः ।।13।।

अचिचिन्तत् स मनसि सदा धर्मपरायणः ।
धर्ममेवाश्रयेदेष न चाधर्मं कथञ्चन ।।14।।

रावणे यद्यपि स्नेहश्चेतस्यस्यास्ति सुस्थिरः ।
नैषोऽभिभूतस्तेन स्याद्वातेनेव महाद्रुमः ।।15।।

इति सञ्चिन्त्य स प्राह प्राञ्जलिस्तमुपद्रुतः ।
अकालहीनं कार्यार्थी कुम्भकर्णं विभीषणः ।।16।।

तं दृष्ट्वा कुम्भकर्णस्य सहसा ज्वलितोऽभवत् ।
शत्रुपक्षात्समायातं कोपोऽग्निः समिधा यथा ।।17।।

वाघ की गन्ध पाकर जैसे कांपता हिरण का अंग-अंग।
वैसी ही दशा तुम्हारी भी इसलिए, बदलता रंग-ढंग ॥ ८ ॥

हे भीरु ! दूर से धनुष-वाण लख दशा काक की हो जैसी।
इस समय तुम्हारी स्थिति भी हो रही अचानक ही वैसी ॥ ९ ॥

इस भांति कठोर वचन सुनकर वह कुंभकर्ण अति वीर्यवान्।
तैयार हो गया युद्ध-हेतु रक्षा करने को बन्धु-मान ॥ १० ॥

वैरी की भयवर्द्धिका शक्ति लेकर हाथों में महावीर !
चल पड़ा राम से युद्ध हेतु महती सेना के साथ वीर ॥ ११ ॥

उसको विशाल सेना समेत रण में आते लखकर सहसा।
दूर से विभीषण देख रहा साक्षात् प्रकुपित रुद्र जैसा ॥ १२ ॥

गिरिनदीवारि के सदृश उसे अनिवार्य समझ करके उसने।
उसको विनीत वचनों से ही रोकने का यत्न किया उसने ॥ १३ ॥

धर्मिष्ठ विभीषण ने उस क्षण मन में था यही विचार किया।
यह कभी अधर्म नहीं करता इसका धर्माश्रय नियम रहा ॥ १४ ॥

यद्यपि इसका रावण के प्रति है सुदृढ़ स्नेह इतना ऐसा।
जिससे न कभी यह डिगा स्वयं वायु के वेग से तरु जैसा ॥ १५ ॥

यह सोच कार्य की सिद्धि हेतु वह कुंभकर्ण के पास गया।
कर जोड़ विभीषण ने उससे तत्काल विनय के साथ कहा ॥ १६ ॥

उसे देख उस कुंभकर्ण का सहसा क्रोध बढ़ा ऐसे
शत्रु पक्ष से आया यह अग्नि जले समिधा से जैसे ॥ १७ ॥

यद्यप्यासीत्कुम्भकर्णो भृशं धर्मपरायणः ।
तथापि स्वे नृपे तस्य स्नेहोऽभूद् बलवत्तरः ।।18।।

तं विहाय विनिर्यातं मातृभूमिं निजां तथा ।
कारणाद् येन केनापि नैवासौ बह्वमन्यत ।।19।।

भर्त्सयामास निशितैर्वचनैः परुषाक्षरैः ।
परपक्षाश्रितं तं स ज्ञातिद्रोहापराधिनम् ।।20।।

ज्ञातिद्रोहात्परतरं देशद्रोहात्तथा च न ।
कुत्स्यं कर्माभवत्तस्य धार्मिकस्यापि धीमतः ।।21।।

किञ्चिद्विलक्षो वचनैस्तं सम्प्राह विभीषणः ।
देशज्ञातिपरित्यागे हेतुरस्ति विशेषतः ।।22।।

न पृथग्जनवद्रामो द्रष्टव्यो येन केनचित् ।
भूलोकमवतीर्णोऽयं साक्षान्नारायणः प्रभुः ।।23।।

शुश्रूषा तस्य सर्वेषां कर्म पुण्यतमं मतम् ।
इत्येव धियमाश्रित्य तमहं समुपस्थितः ।।24।।

उपहस्य वचस्तस्य कुम्भकर्णस्तमूचिवान् ।
मिथ्या वचस्ते दुर्बुद्धे ! रामो नारायणो नहि ।।25।।

यद्येवं मन्यसे तत्त्वं तस्य पक्षं समाश्रितः ।
प्रश्नानां मे समाधानं तस्मादाप्नुहि सत्वरम् ।।26।।

यद्यसौ मे समादध्यात्प्रश्नांस्तर्हि वचस्यहम् ।
तव प्रत्ययमेतास्मि तमुपैतास्मि च ध्रुवम् ।।27।।

यद्यपि था कुंभकर्ण अतिशय सद्धर्मपरायण निःसंशय।
फिर भी निज नृप के प्रति उसका था महत्स्नेह भी निःसंशय ॥ १८ ॥

छोड़कर बन्धु, निज मातृभूमि जो निकल गया था इसीलिए।
जो कुछ भी कारण था, फिर भी गर्हित यह विभीषण, इसीलिए ॥ १९ ॥

कटु वचन परूष अक्षरों सहित उस जाति द्रोह अपराधी की।
भर्त्सना की उसकी जिसने वैरी की सहज शरण ले ली ॥ २० ॥

जाति के द्रोह से अधिक तथा देश के द्रोह से अधिक कहीं।
इस धर्मभीरु का भी कुकृत्य हो सकता कोई अधिक नहीं ॥ २१ ॥

उसके वचनों से कुछ लज्जित होकर के विभीषण बोल पड़ा।
देश और जाति तजने में कारण विशेष था आन पड़ा ॥ २२ ॥

साधारण जन-से राम नहीं कोई न उन्हें ऐसा समझे।
वे तो प्रत्यक्ष नारायण प्रभु पृथ्वी पर मानव बन उतरे ॥ २३ ॥

उनकी सेवा का कर्म बन्धु ! पुण्यातिपुण्यतम कहा गया।
बस यही बुद्धि में स्थिर कर, उनकी सेवा में पहुँच गया ॥ २४ ॥

हँस पड़ा विभीषण की बातें सुन कुंभकर्ण ने तुरत कहा।
हे मूढ़ ! राम नारायण नहीं तेरा यह कथन सभी मिथ्या ॥ २५ ॥

यदि ऐसा ही मानते स्वयं उनके पक्ष का लिया आश्रय।
तो शीघ्र हमारे प्रश्नों का उनसे पूछो है क्या आशय ॥ २६ ॥

यदि वे उत्तर दे देंगे तो मैं स्वतः तुम्हारी बातों पर।
विश्वास करूँगा निःसंशय मैं पडू उन्हीं के चरणों पर ॥ २७ ॥

पिपृच्छिषामि यान् प्रश्नान् शृणु त्वं तान् विभीषण ।
उत्तराणि च विद्धि त्वं रामान्नारायणात्तव ।। 28 ।।

को नामास्ति यतिर्मूढो दन्ती ऋजुरदस्तथा ।
का चास्तिच्छलिनी योषा को न्वस्ति च शठः पुमान् ।। 29 ।।

प्रश्नानेतान्समादाय राघवं समुपस्थितः ।
रावणावरजो धीमान् समाधानसमुत्सुकः ।। 30 ।।

राघवश्च कपीन्द्राश्च चिरं चिन्तनमास्थिताः ।
एषां प्रश्नविशेषाणां समाधानं न लेभिरे ।। 31 ।।

तदाऽङ्गदोऽतिचतुरः कुम्भकर्णमुपागतः ।
तमूचे भोः समाधानं प्रभुर्नो वेद तत्त्वतः ।। 32 ।।

यथाऽस्य चिन्तनं तत्र तथा तेऽपि भवेत् किमु ।
इति ज्ञानार्थमेवाहं त्वामत्र समुपस्थितः ।। 33 ।।

तद् ब्रूहि त्वं समाधानं प्रथमं येन सत्वरम् ।
सत्यापयेन्निजं तावद्दर्शनं मत्प्रभुः प्रियः ।। 34 ।।

बालोचितं वचस्तस्य निशम्योच्चैर्जहास सः ।
अशक्तिं राघवस्यात्रोपहासपदमापयन् ।। 35 ।।

ततः प्रववृते दैत्यः समाधातुं स्वयं निजान् ।
प्रश्नान्येऽत्यन्तजटिला राघवायाभवन् पुरा ।। 36 ।।

मूर्खो यती राम एव यो भार्यामजहात्प्रियाम् ।
एकाकिनीमरण्येऽपि हैमं मृगमभिद्रुतः ।। 37 ।।

मैं पूँछूगा जो प्रश्न यहाँ तुम सुनो विभीषण बन्धु ! उन्हें
जिनके उत्तर तुम भी समझो निज रामनाम नारायण से ॥ २८ ॥

क्या नाम तपस्वी जो विमूढ़ गज कौन दन्त सीधा जिसका ।
छलना नारी है कौन और वह पुरुष कौन जो मूर्ख बना ॥ २९ ॥

प्रश्नों के साथ विभीषण भी राघव-समीप आ पहुंचा जब ।
धीमान् रावणानुज उनसे उत्तर-हित लगता उत्सुक तब ॥ ३० ॥

राघव के साथ कपीन्द्र सभी सोचते रहे देर तक वहीं ।
पर समाधान उन प्रश्नों का उनको मिल पाया सहज नहीं ॥ ३१ ॥

तब अंगद जो था अधिक चतुर आया कुंभकर्ण के समीप ।
बोला उससे—वह समाधान प्रभु समझ रहें ठीक-ठाक ॥ ३२ ॥

जैसा उनका चिन्तन, वैसा क्या होगा वही तुम्हारा भी ।
अब यही जानने के हितार्थ आ उपस्थित यहां अभी ॥ ३३ ॥

तो तुम्हीं कहो वह समाधान पहले जिससे वह यथाशीघ्र ।
सत्यापित कर लें निज विचार मेरे प्रभु तब शीघ्रातिशीघ ॥ ३४ ॥

बच्चों की जैसी बातें सुन वह कुम्भकर्ण हंस पड़ा वहां ।
वह समझ गया श्रीराम भद्र उत्तर दे सकते नहीं यहाँ । ३५ ॥

तदनन्तर दानव वहां स्वयं प्रश्नों का करता समाधान ।
पहले जिन जटिल सवालों का राघव न कर सके समाधान ॥ ३६ ॥

वह मूर्ख तपस्वी राम स्वयं जो वन में पत्नी छोड़ स्वयम् ।
दौड़ थे हेम किरण पीछे उसको एकाकी त्याग स्वयम् ॥ ३७ ॥

ऋजुदन्तः कुञ्जरो हि लङ्काधीशोऽस्ति रावणः ।
परस्य भार्यां योऽकाङ्क्षदसन्तुष्टः स्वभार्यया ।। 38 ।।

शूर्पणखाऽस्तिच्छलिनी योषा या रामलक्ष्मणौ ।
अवशा स्वस्य कामान्धा प्रपेदे पुंश्चली यथा ।। 39 ।।

शठः पुमांश्च नो वंश्यो विभीषण इतीरितः ।
येन कृतौ राजद्रोहो देशद्रोहश्च गर्हितौ ।। 40 ।।

इति वाक्यं प्रवर्त्यात्र कुम्भकर्णोऽतिवीर्यवान् ।
रामसैन्यं प्रति तदा प्रययौ तज्जिघांसया ।। 41 ।।

तमापतन्तं सहसा कल्पान्ताभ्रावलिप्रभम् ।
न्यरुणद् बलिनां श्रेष्ठः सुग्रीवः कपियूथपः ।। 42 ।।

प्रबलोऽयमिति प्रेक्ष्य तच्छक्तेर्ह्रासमिच्छुकः ।
युक्तिमेकां कुम्भकर्णस्तदर्थं समशिश्रियत् ।। 43 ।।

हीनोऽसि शक्त्या मत्तस्त्वं नालं योद्धुं मया सह ।
इति तं प्राह दैत्योऽसावात्मश्लाघामुपाश्रितः ।। 44 ।।

मन्यसे यदि शक्तिस्ते मत्तोऽस्ति प्रबला तदा ।
गच्छ सुग्रीव ! शीघ्रं त्वं हिमवन्तं नगाधिपम् ।। 45 ।।

गत्वा त्वं तत्र रङ्गाख्यं महाद्रुममुपानय ।
युध्यस्व तेन घोरेण मया सह च वानर ! ।। 46 ।।

यावदेव गिरस्तस्य निस्सरन्ति मुखादिमाः ।
उत्पुप्लुवे तावदेव हिमवन्तं गिरिं कपिः ।। 47 ।।

सीधे दांतों का गज समझो है लंकाधीश दशानन ही।
सन्तुष्ट न अपनी पत्नी से कामना सदा परपत्नी की ॥ ३८ ॥

छलना नारी सूर्पणखा है जो राम-लक्ष्मण के समीप।
जा पहुंची कामान्धा होकर बन गयी स्वयं कुलटा सटीक ॥ ३९ ॥

शठ पुरुष हमारे वंश मध्य है जिसे विभीषण कहा गया।
जिसने स्वदेश से राजा से कैसा निन्दित विद्रोह किया ॥ ४० ॥

ऐसा कहकर वह कुंभकर्ण अति वीर्यवान् बलवान यहां।
चल पड़ा राम सेना समीप उनकी हत्या के हेतु वहां ॥ ४१ ॥

कल्पान्त काल के मेघ-तुल्य उनको आते देखा सहसा।
कपि सेनापति सुग्रीव श्रेष्ठ ने उसे वीरता से रोका ॥ ४२ ॥

है प्रबल, समझकर कुम्भकर्ण उस शक्ति-ह्रास का इच्छुक वह।
युक्ति से काम लेना होगा ऐसा निश्चय कर बैठा वह ॥ ४३ ॥

तुम शक्तिहीन मेरे समक्ष लड़ सकते मेरे साथ नहीं।
इस भाँति कहा उस दानव ने निज यथोगान कर उठा वहीं ॥ ४४ ॥

यदि स्वयं समझते शक्तिमान मुझसे भी अधिक प्रबल हो तुम।
तो इसी समय सुग्रीव शीघ्र नगराज हिमालय जाओ तुम ॥ ४५ ॥

तुम जाकर वहाँ रंक नामक उस महावृक्ष को लाओ तुम।
हे वानर ! मेरे साथ उसी वृक्ष से युद्ध भी करना तुम ॥ ४६ ॥

जब तक उस दानव के मुख से इस भांति निकलते रहे वचन।
तब तक सुग्रीव तुरत दौड़े पहुंचे हिमगिरि वन सहज गहन ॥ ४७ ॥

प्रत्यावृत्तः क्षणेनैव रङ्गाख्येन द्रुमेण सः ।
तत्प्रहारं पातयिष्णुः कुम्भकर्णेऽतिदारुणम् ।। 48 ।।

ततः प्रववृते युद्धं दैत्येन्द्रकपिमुख्ययोः ।
कपिमुख्यस्य तत्राभूच्छक्तौ ह्रासोऽभिलक्षितः ।। 49 ।।

गतागताभ्यां श्रान्तोऽभूत्सुतरां वानरस्तदा ।
श्रान्तः सोऽस्त्वित्युपायोऽयं कुम्भकर्णेन चिन्तितः ।। 50 ।।

श्रान्ते तस्मिन्महावीरेऽनायासेनैव दानवः ।
तं विजिग्ये प्रतस्थे च तं स्वकक्षे विधारयन् ।। 51 ।।

सुग्रीवस्य दशामेतामालोक्य हनुमांस्तदा ।
परापतद्दानवेन्द्रं सुग्रीवं च व्यमोचयत् ।। 52 ।।

अदशत्कर्णनासे च दनुजस्याञ्जनीसुतः ।
गैरिकाद्रेः प्रावृषीव रक्तस्रावोऽभवद्यतः ।। 53 ।।

स एवंस्थितिको लङ्कामभिपेदेऽतिलज्जितः ।
अवमानप्रतीकारं स्वां शक्तिं मनसा व्रजन् ।। 54 ।।

तस्याऽऽसीद्रक्षसः शक्तिर्मोक्षशक्तिरितीरिता ।
मोक्षोपायो दानवानां रामाख्यविपदस्तदा ।। 55 ।।

शक्तेर्जागरणं शक्तेर्भवेद्दैवतपूजया ।
इति सञ्चिन्त्य दैत्योऽसौ तदर्थं समनह्यत ।। 56 ।।

पूजार्थं स नदीतीरं पुण्यमेकं समाश्रयत् ।
पूजां यथाविधानं च सम्प्रारभत वीर्यवान् ।। 57 ।।

फिर वृक्ष साथ में लेकर वह क्षणभर में आया वीर वहाँ।
उससे प्रहार करता दारुण उस दानव पर सुग्रीव वहाँ ॥ ४८ ॥

इस भांति छिड़ गया घोर युद्ध उस दैत्य तथा सुग्रीव- मध्य।
पर, कपिपति की शक्ति का ह्रास दिख पड़ा उस समय युद्ध-मध्य ॥ ४९ ॥

सुग्रीव दौड़ कर इधर-उधर थक गया उस समय दुर्निवार।
कपि किसी भांति यों थक जाये था कुंभकर्ण का भी विचार ॥ ५० ॥

कपिपति जैसे ही थका, उसे दानव ने पकड़ा उसी समय।
लंका की ओर चला, उसको कांख ने लिए वह दैत्य सहज ॥ ५१ ॥

यह दशा देख वानरपति की हनुमत् सहसा सन्नद्ध हुआ।
दानव के ऊपर कूद पड़ा कपिपति को उसने छुड़ा लिया ॥ ५२ ॥

अंजनी पुत्र ने दानव की नासिका-कान था काट लिया।
गेरू के गिरि से वर्षा सा शोणित अपार था वहाँ बहा ॥ ५३ ॥

इस स्थिति में वह कुंभकर्ण लंका पहुँचा लज्जित होकर।
अपमान हुआ था उसका जो सोचता वही प्रतिकार अपर ॥ ५४ ॥

उस दानव की थी शक्ति प्रबल जो मोक्ष शक्ति कहलाती थी।
उस समय राम से बचने की दैत्यों की वही मोक्षोपाय थी ॥ ५५ ॥

शक्ति को जगाने के हितार्थ देवों का पूजन आवश्यक।
इस भाँति सोचकर राक्षस भी हो गया स्वयं ही आराधक ॥ ५६ ॥

पूजा के लिए नदी तट पर उसने था आसन लगा लिया।
उस महावीर ने विधिवत् ही पूजन-क्रम था आरंभ किया ॥ ५७ ॥

मोक्षशक्तिं निधायासौ सम्मुखे स्वस्य निश्चलः ।
सम्मीलिताक्षियुगलः सुप्तमीन इव ह्रदः ।। 58 ।।

दैवतान्यर्चयामास स्थिरेण मनसा दिशः ।
चन्दनागुरुकर्पूरपुष्पगन्धैः प्रपूरयन् ।। 59 ।।

तदैव पूतिर्गन्धोऽस्यास्पृशन्नासापुटद्वयम् ।
व्याकुलः सुतरां येन चिन्तितश्च बभूव सः ।। 60 ।।

दुर्गन्धोऽसहनीयोऽयं पुण्यकर्मण्युपस्थितः ।
कुत इति परिज्ञातुं नेत्रे स उदमीलयत् ।। 61 ।।

उन्मीलिताभ्यां नेत्राभ्यां प्रवहन्तं नदीजले ।
दुर्दर्शनं ददर्शासौ पूतिगन्धिं शुनः शवम् ।। 62 ।।

चञ्चुप्रहारं कुर्वन्तं काकं तत्र ददर्श च ।
येनास्य व्याकुलीभावः सुतरां पर्यवर्धत ।। 63 ।।

व्याकुलीभावतः पूजामपूर्णामेव दानवः ।
प्रातिष्ठत परित्यज्य सुतरां विमनायितः ।। 64 ।।

हनूमता युक्तिरियं पूजाविघ्नार्थमाश्रिता ।
शुनः शवस्य रूपं स एव नद्यामुपाश्रयत् ।। 65 ।।

काकरूपमङ्गदेन समाश्रितमभूत्तदा ।
एवं पूजाविधौ विघ्नस्ताभ्यां सम्पादितोऽभवत् ।। 66 ।।

अथ विघ्नितपूजोऽपि शक्तिमादाय दानवः ।
मोक्षाभिधानां रामस्य सम्प्रातिष्ठत वाहिनीम् ।। 67 ।।

उस मोक्ष शक्ति को संमुख रख निश्चल मन से था किया ध्यान।
दोनों नेत्र कर लिये बन्द हृद में सोई मछली समान ॥ ५८ ॥

स्थिर मन होकर उसने तब देवार्चन था सम्पन्न किया।
कर्पूर-अगरु-चन्दन पुष्पों से पूजन विधिवत् पूर्ण किया ॥ ५९ ॥

सहसा उसकी नासिका-मध्य दुर्गंध अधिक व्यापती रही।
जिससे वह व्याकुल हुआ, अस्तु मन में चिन्ता फैलती गई ॥ ६० ॥

इस पुण्यकर्म में असहनीय दुर्गंध कहाँ से चली यहाँ।
क्या है इसके परिज्ञान हेतु अपनी आँखों को खोल लिया ॥ ६१ ॥

नेत्र खोलते ही देखा कुत्ते का शव दुर्गन्ध युक्त।
दुर्दर्शन था, उसका वह शव वह रहा नदी के वारि-मध्य ॥ ६२ ॥

चोंच से कर रहा था प्रहार उसने देखा था काग वहाँ।
घृणित दृश्य के दर्शन से उसकी व्याकुलता बढ़ी वहाँ ॥ ६३ ॥

व्याकुल होने से दानव की पूजा अपूर्ण रह गयी वहाँ।
इसलिए खिन्न हो रहा अधिक तब त्याग उसे प्रस्थान किया ॥ ६४ ॥

पूजा में विघ्न डालने का हनुमत् ने ही यह उपाय किया।
कुत्ते का शव स्वरूप बनकर सरिता में आश्रय ग्रहण किया ॥ ६५ ॥

कौवे का रूप बना अंगद उस शव पर था आसीन हुआ।
इस भाँति विघ्न उस पूजा का उन दोनों ने सम्पन्न किया ॥ ६६ ॥

पूजा में विघ्नित होकर वह लेकर निज शक्ति चला दानव।
उस मोक्ष शक्ति के साथ, राम की सेना में पहुंचा दानव ॥ ६७ ॥

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

स तत्र पूर्वं किल सङ्गतोऽभूत्
सौमित्रिणा वीरवरेण साकम् ।
येनाभवत्तस्य दशाननस्य
भ्रात्रा चिरं युद्धमतीव घोरम् ।। 68 ।।

युद्धे प्रवृत्ते विजयाभिलाषी
शक्तिं स तस्मै विससर्ज मत्तः ।
सा चाप्यनास्वादितपूर्वरक्त-
मार्यस्य कस्यापि पपौ तृषार्त्ता ।। 69 ।।

पूजाविघातेन न यद्यपि प्राग्
प्रबोधिता शक्तिरभूदमुष्याः ।
तथापि तस्या नहि शक्तिरासी-
दल्पा निहन्तुं रिपुमोक्षमीप्सुः । ।। 70 ।।

तया स शक्त्या प्रहृतः प्रगाढं
सौमित्रिरासीत्पतितो विसञ्ज्ञः ।
शुचा परीतान् विदधत्स्वबन्धून्
नैराश्यमेषां जनयंश्च तीव्रम् ।। 71 ।।

एवं स्थिते तत्र विभीषणस्तान्
सम्प्राह भोः ! सर्वयपर्वताद् द्राक् ।
दिव्यौषधिं यूयमिहानयध्वं
तां सेवयध्वं च विसञ्ज्ञमेनम् ।। 72 ।।

प्रागेव सूर्योदयतः परेद्यु-
रेषौषधिस्तावदनेन सेव्या ।

उस समय वीरवर लक्ष्मण के साथ ही प्रथम
उस कुंभकर्ण का निश्चय ही संग्राम हुआ।
रावण के भ्राता के संग में उन लक्ष्मण का
था बहुत समय तक अति भीषण संग्राम वहाँ ॥ ६८ ॥

जय के अभिलाषी कुम्भकर्ण ने युद्ध मध्य
शक्ति का लक्ष्मण के ऊपर आघात किया।
इसके पहले आर्य का रक्त पा सकी न वह
इस समय शक्ति ने उनका शोषित पान किया ॥ ६९ ॥

पूजा विधान में विघ्न पड़ा पहले यद्यपि
इसलिए, प्रवोधित शक्ति सहज हो सकी नहीं।
फिर भी वैरी का वध करने में तेजस्वत:
दिख रहा शक्ति में कम हो, ऐसी बात नहीं ॥ ७० ॥

जब शक्ति प्रहार हुआ भीषण उस समय वहाँ
होकर अचेत गिर पड़े लक्ष्मण पृथ्वी पर।
यह देख बन्धुगण पड़े शोक में चिन्तित हो
हो गयी निराशा व्याप्त सभी में अधिक प्रखर ॥ ७१ ॥

ऐसी स्थिति में वहाँ विभीषण बोल पड़ा—
'हे बन्धो ! जाओ शीघ्र कि सर्वत्र पर्वत पर।
तुम सब ले आओ दिव्य औषधी इसी समय
लक्ष्मण सचेत हो जायें जिसका सेवन कर ॥ ७२ ॥

अगले दिन के सूर्योदय से पहले ही यह
सेवन की जाय लक्ष्मण द्वारा तुरत यहाँ।

ततः परस्तान्नहि कश्चिदस्य
स्याल्लाभ ओषध्यनुसेवनेन ।। 73 ।।

श्रुत्वादसीयं वचनं गरीयः
कालस्य हानिं परिहर्तुकामः ।
उत्पुप्लुवे द्यां पवनस्य पुत्रो
गिरिं प्रतस्थे च स सर्वयाख्यम् ।। 74 ।।

मध्येपथं यावदसौ प्रयाति
सूर्यप्रभास्तं स्नपयन्ति तावत् ।
बभूव तेनातिविचिन्तितः स
भीतश्च सूर्योदयकल्पनायाः ।। 75 ।।

सूर्योदये नाम समा न आशा
आकाशपुष्पप्रकरस्वरूपाः ।
भवेयुरित्येष धियं दधानः
सूर्यं पथश्च्यावयितुं प्रवृत्तः ।। 76 ।।

रथं स सूर्यस्य दृढं गृहीत्वा
निवर्तनाय स्वमनो न्ययुङ्क्त ।
एवं च कुर्वन् किरणैरमुष्य
संप्लुष्टसर्वावयवो बभूव ।। 77 ।।

ततोऽनु सूर्यः समवेक्ष्य वीरं
श्रीरामकार्यैकपरायणं तम् ।
अहो मया किङ्कृतमित्यनन्ता-
नुतापदाहेन बभूव दग्धः ।। 78 ।।

इसके पश्चात् किया सेवन यदि औषधि का
तो समझो इससे लाभ न होगा किमपि यहाँ ॥ ७३ ॥

सुनकर उसके ये वचन रहे जो महत्त्वपूर्ण
काल की हानि का धर के मन में अधिक ध्यान।
वे पवनपुत्र हनुमान उड़ चले अम्बर में
उस सर्वय नामक पर्वत का करके विधान ॥ ७४ ॥

जब तक पहुंचे थे मध्यमार्ग में हनूमान
सूर्य-प्रभा ने तब तक उनको ढांप दिया।
इससे वे चिन्तत हुए अधिक उस समय सहज
सूर्योदय के विचार ने था भयभीत किया ॥ ७५ ॥

सूर्य के उदय होने की आशा भी विलुप्त
आकाश पुष्प की भाँति नहीं संभव कुछ भी।
यह तथ्य बुद्धि में आते ही उस समय वहाँ
सूर्य के मार्ग अवरोध हेतु तत्परता की ॥ ७६ ॥

दृढ़ता से पकड़ लिया सूरज के रथ को ही
उसको लौटाने का मन में संकल्प किया।
ऐसा करने में रवि-किरणों की गर्मी से
कपि के अंगों का अकस्मात् प्रज्वलन हुआ ॥ ७७ ॥

यह दृश्य देखकर सूर्यदेव हो उठे दुःखी
जो महावीर राम के कार्य में था प्रवृत्त।
हा, मैंने यह क्या किया कि जिससे हनुमान्
अत्यन्त ताप का दाह प्राप्त हो गया दग्ध ॥ ७८ ॥

सञ्जीवयामास ततः स एनं
निष्टप्तहेमद्युतिकञ्च चक्रे ।
भूत्वा पयोदान्तरितो दिवाऽपि
रात्र्यन्धकारानुभवं च तेने ।। 79 ।।

तेन प्रसन्नो हनुमान् स्वयात्रां
प्रवर्तयामास पुनः प्रवीरः ।
अल्पेन कालेन च सर्वयाख्यं
शैलाधिराजं समवाप चापि ।। 80 ।।

आकारयामास च तत्र वीरः
स ओषधिं साऽपि च तं बभाषे ।
अत्रास्मि नीचैरिति तां ययौ स
नालोकयामास च तां स तत्र ।। 81 ।।

ततः स शुश्राव गिरं तदीया-
मत्रास्मि वीरोच्चतरे प्रदेशे ।
ततः स उच्चैर्गतवान् न चापि
ददर्श तां वीरवरोऽतिखिन्नः ।। 82 ।।

गतागताभ्यामथ नैकवारं
श्रान्तश्च खिन्नश्च कपिप्रवीरः ।
स्वां बुद्धिमास्थाय विचक्षणोऽलं
तदोषधेः स ग्रहणे बभूव ।। 83 ।।

अभ्युक्षणं पञ्चनदीजलैः स्या-
द्यद्योषधेस्तर्हि विचित्ररूपा ।

तदनन्तर उसको जीवन दान दिया रवि ने
ताप से तप्त हनुमत् कंचन की भाँति हुआ।
बादल के मध्य छिप गये दिनकर उसी समय
दिन में ही रात सा अंधेरा छा गया वहाँ ॥ ७९ ॥

इससे प्रसन्न हो हनुमान् निज यात्रा में
फिर से आगे बढ़ता जाता वह महावीर।
वह अल्पकाल में ही सर्वत्र नामक पर्वत
शैलाधिराज पर पहुँच गया था महावीर ॥ ८० ॥

जाते ही कपि ने वहाँ पुकारा औषधि को
जिसने तत्काल उसे उत्तर था दिया सहज।
'मैं यहाँ' पहाड़ी के नीचे हूं कपि गया शीघ्र
पर, उसे वहाँ औषधि न दिखायी पड़ी सहज ॥ ८१ ॥

तदनन्तर कपि ने उसकी वाणी सुनी पुनः
'हे वीर! यहाँ हूं मैं ऊंचे पर्वत ऊपर।
तब हनुमान् जा पहुंचे पर्वत के ऊपर
देखी न वहाँ इसलिए दुखी दिखते कपिवर ॥ ८२ ॥

ऊपर-नीचे आते-जाते ही कई बार
थक गये कपीन्द्र साथ ही वह अति खिन्न हुआ।
तदनन्तर अपनी बुद्धि तथा निज कौशल से
कपिवर ने उस औषधि को सहसा प्राप्त किया ॥ ८३ ॥

"यदि पाँच नदी से इसका हो सिंचन
तो इस औषधि का दिख सकता है चमत्कार।

सेव्या भवेत्सेति विधानमेतत्
तदर्थमासीद् विहितं विधिज्ञैः ।।84।।

आसन्पुनः पञ्चनदीजलानि
पुण्यानि दूरें भरताधिकारे ।
स्थितान्ययोध्यानगरे विशाले
प्राप्तिर्न येषां सुकरा बभूव ।।85।।

असम्भवं नैव बभूव किञ्चि-
द्धनूमतस्तत्सपदि प्रपेदे ।
पुरीमयोध्यां पवनस्य पुत्र-
श्चकार सम्प्रोक्षणमोषधेश्च ।।86।।

सम्प्रोक्षितां पञ्चनदीजलैः स
दिव्यौषधिं राघवमानिनाय ।
तत्सेवनेन प्रतिलब्धसञ्ज्ञः
वीरः स सुप्तोत्थितवद् बभासे ।।87।।

आलोक्य रामावरजं तदानीं
श्रीलक्ष्मणं मृत्युमुखाद्विमुक्तम् ।
रामस्य सैन्ये तुमुलः समस्ते
हर्षध्वनिः श्रोत्रभिदाविरासीत् ।।88।।

विवेश सोऽयं दनुजस्य कुम्भ-
कर्णस्य कर्णौ भयमादधानः ।
श्रीलक्ष्मणोऽभूत्प्रतिलब्धसञ्ज्ञ-
स्तेनेत्यसौ निश्चयमाततान ।।89।।

जब इस विधान से सेवन होगा औषधि का
तब कार्य सिद्ध हो, यह विधि ज्ञाता का विचार ॥ ८४ ॥

पर, पांच नदी का जल-पुनीत है अधिक दूर
इस समय भरत का उन पर है अधिकार सहज।
स्थिर है जो विशाल अयोध्या नगर मध्य
इसलिए, प्राप्त करना उसका है नहीं सहज ॥ ८५ ॥

कुछ भी न असंभव हुआ आज तक इसे सोच
हनुमान चल पड़े यथाशीघ्र उस समय वहाँ।
औषधि के सम्प्रोक्षण हितार्थ के पवनपुत्र
तत्काल किया प्रस्थान अयोध्यापुरी जहाँ ॥ ८६ ॥

सम्प्रोक्षित कर पंचनदी जल से औषधि
उसने दिव्यौषधि रघुनन्दन को तुरत दिया।
उसके सेवन से लक्ष्मण की चेतना जगी
लगता था जैसे सोते से उठ वीर गया ॥ ८७ ॥

रामानुज श्री लक्ष्मण को देखकर सहज
सहसा विमुक्त उस समय मृत्यु के मुख से ही।
राघव की सेना में हर्ष. ध्वनि-तुमुलनाद
फैलता चतुर्दिक् कर्ण विदारक जैसे ही ॥ ८८ ॥

वह तुमुलनाद पहुंचा था कानों दानव के
उस कुंभकर्ण का चित् भयभीत हुआ सहसा।
श्री लक्ष्मण की चेतना पुनः है जाग उठी
उसके मन में व्यापता रहा निश्चय ऐसा ॥ ८९ ॥

भूयोऽपि तस्य प्रतिकारमीप्सुः
स बृंहयामास निजं शरीरम् ।
समावृणोच्चापि नदीं स तेन
रामस्य सैन्यं रहयञ्जलेन ।।90।।

अहानि सप्तैवमवस्थितोऽभूत्
स निम्नगायां प्रतिरोधकामः ।
येनाभवंस्तद्रहितानि राम-
सैन्यानि सर्वाणि तृषाकुलानि ।।91।।

दैत्याधमो यत्र बभूव देशं
तं पुष्पकन्यागण एव वेद ।
अतो हनूमान् धृततत्स्वरूप-
स्तत्स्थानमापत् सह ताभिरेव ।।92।।

सम्प्राप्तमात्रश्च स तं प्रदेशं
निजं स्वरूपं प्रतिपद्य घोरम् ।
पादप्रहारं प्रददावमुष्मै
यस्मात्सपद्येव स उत्थितोऽभूत् ।।93।।

समुत्थितेऽस्मिन् प्रतिरोधमाप्ता
आपः प्रवृत्ता वहनाय भूयः ।
उदन्यितानि प्रसभं यतो द्राक्
सैन्यान्युदन्यां शमयाम्बभूवुः ।।94।।

कपिप्रहारश्लथसर्वकायः
स्वयत्नवैफल्यविलक्षचेताः ।

फिर से प्रतिकार हेतु उस दानव ने
अपने शरीर को था बढ़ाया अधिक वहाँ।
जिससे उसने सरिता-धारा को रोक दिया
फलतः राघव-सेना जल-वंचित हुई वहाँ ॥ ९० ॥

इस भांति सात दिन तक वह वहीं डटा रहा
सरिता के जल का उसने था प्रतिरोध किया।
जल के अभाव में रघुनन्दन की सेना भी
उस समय प्यास से व्याकुल दिखती रही वहाँ ॥ ९१ ॥

वह अधम दैत्य था पड़ा जहां वह देश मात्र
जानतीं उसे वे पुष्पकन्यका गज सम्यक्।
इसलिए, हनुमत् उनका ही स्वरूप धरकर
आ गये उन्हीं के साथ वहां पर तभी तुरत ॥ ९२ ॥

जब उस प्रदेश में हनुमान् पहुंचे तब तक
अपना स्वरूप अति घोर बनाया तुरत वहाँ।
उस दानव पर पाद प्रहार था किया, अस्तु
तत्काल उसी से उठ बैठा वह दैत्य वहाँ ॥ ९३ ॥

उसके उठते ही वह प्रतिरोध समाप्त हुआ
सरिता का जल भी फिर से बहने लगा वहाँ।
जल देख सैन्यगण राघव के शीघ्रातिशीघ्र
पीकर के कर ली शान्त पिपासा सहज वहाँ ॥ ९४ ॥

कपि के प्रहार से अंग सभी के परिश्रान्त
उस कुंभकर्ण के यत्न सभी थे विफल हुए

स्थानादमुष्मान्नयवित्सपद्य-
पचक्रमे वीरवरब्रुवः सः ।।95।।

ततः परेद्युः पुनरप्यसौ स्व-
शक्त्यायुधेन प्रजहार शक्त्या ।
स्वया महत्या कपिवीरसैन्यं
तस्मिन्समन्ताद् भयमादधानः ।।96।।

कालान्तकप्रख्यमिमं निरोद्धुं
रामः स्वयं वीर उपस्थितोऽभूत् ।
ब्रह्मास्त्रमस्मिन् मुमुचे स येन
व्यसुर्दनूजो निपपात भूमौ ।।97।।

प्राग् दानवो मृत्युमुखप्रवेशा-
न्नारायणं स्वस्य पुरो ददर्श ।
सशङ्खचक्रं सगदात्रिशूलं
स्वर्गस्य पन्थानममुं दिशन्तम् ।।98।।

(स्वागतावृत्तम्)

तेन हर्षममितं प्रतिपन्नो
राघवस्य चरणावुपसन्नः ।
चेतसा स दनुजो न विषण्णः
स्वर्गलोकमभवत् प्रतिपन्नः ।।99।।

था राजनीति में कुशल, वीर, इसलिए तुरत
उस स्थल से वह चला गया भारी मन से ॥ ८५ ॥

दूसरे दिवस वह पुनः वहीं पर आ धमका
निज अमोघ शक्ति का उसने प्रबल प्रहार किया।
निज महाशक्ति के बल पर रण में राघव की
वानर सेना में भीषण भय उत्पन्न किया ॥ ९६ ॥

रोकने के लिए उसको वे श्रीराम स्वयं
काल के सदृश उसके समक्ष आ गये वहाँ।
उसके ऊपर ब्रह्मास्त्र प्रहार किया जिससे
मरकर वह दानव गिरा भूमि पर तुरत वहाँ ॥ ९७ ॥

उस समय मृत्यु के मुख में जाने के पहले
दानव ने नारायण को सम्मुख देख लिया।
जो गदा, त्रिशूल, शंख, चक्रों से शोभित थे
कर दर्शन उसने तुरत स्वर्ग का मार्ग लिया ॥ ९८ ॥

इस भाँति दनुज वह हर्ष विभोर हुआ उस क्षण
राघव के श्रीचरणों में था स्थान लिया।
चित्त में नहीं उसके था कुछ भी खेद रहा
अन्ततः स्वर्ग का लोक सहज ही प्राप्त किया ॥ ९९ ॥

षोडशः सर्गः

(मलिवग्गब्रह्मोपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

स्वर्गते दनुजे कुम्भकर्णे दुःख्यन्मना अपि ।
रावणो नहि रामस्य विजये मुमुचे हठम् ।।1।।

इन्द्रजिन्नामधेयं स प्रियं पुत्रं महारथम् ।
इन्द्रस्यापि विजेतारं सैन्याध्यक्ष्ये न्ययोजयत् ।।2।।

नागपाशे निबद्धाऽभूत्तेन रामस्य वाहिनी ।
सलक्ष्मणा दृश्यते स्म चित्रालिखितवत्तदा ।।3।।

ब्लैवदाख्याच्छराद्राममुक्तात्तत्र समापतत् ।
गरुडो येन सर्वेऽपि नागा याता यथागतम् ।।4।।

शौर्यं बहुविधं युद्धे सम्प्रदर्श्येन्द्रजित्तदा ।
रावणस्य प्रियः पुत्रो लोकान् वीरोचितान् गतः ।।5।।

एकैकशो निपतिता एवं वीरवरा युधि ।
दशास्याशास्तम्भभूता रामवात्याप्रताडिताः ।।6।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

षोडश सर्ग

(मलिवग्गब्रह्मोपाख्यान)

स्वर्गीय हो गया कुंभकर्ण रावण का मन था दुःखी हुआ।
फिर भी राघव पर विजय हेतु हठ का न था कभी त्याग किया ॥ १ ॥

था इन्द्रजीत नामक प्रिय सुत जो महारथी बलवान हुआ।
इन्द्र के उसी विजयी को ही उसने सेनापति नियुक्त किया ॥ २ ॥

राघव की सेना को उसने था नागपाश से बांध लिया।
लक्ष्मण समेत वह सेना दल दिख रहा चित्र के सदृश वहाँ ॥ ३ ॥

बलैवत्-नामक शस्त्र का राम ने सहसा वहाँ प्रयोग किया।
आ गये गरुड़ देखकर सर्प दल ने तत्काल पयान किया ॥ ४ ॥

उस इन्द्रजीत ने नानाविध वीरत्व युद्ध में दिखलाया।
अन्ततः दशानन का प्रिय सुत वीरोचित गति को प्राप्त किया ॥ ५ ॥

यों एक-एक करके सारे वीरों का रण में अन्त हुआ।
राम के प्रभंजन से ताड़ित रावण विस्मित अत्यन्त हुआ ॥ ६ ॥

श्रीराघवेन्द्रस्तदनु प्रवीरः
पौलस्त्यसेनाकदनं चकार ।
एकैकशस्तत्र निकृत्तशीर्षा
निकृत्तशाखा इव शाखिसङ्घाः ।।7।।

निशाचरा भूमितले निपेतू
रक्तं वमन्तो लुलुठुश्च दीनाः ।
तत्सर्वमालोक्य बभूव चिन्ता-
चान्तान्तरङ्गो दनुजाधिनाथः ।।8।।

एवं स्थितिश्चेत्कतिचिद् दिनानि
चमूर्ममेयं क्षयमेव यायात् ।
अतोऽत्र किञ्चित्करणीयमेव
नो चेद्विनाशो मम निश्चितोऽस्ति ।।9।।

बहु प्रतर्क्यैवमुपायमेष
श्रीरामनाम्न्या विपदो विमुक्तेः ।
सञ्चिन्तयामास विचारशीलः
पितामहप्रार्थनमेव तावत् ।।10।।

नाथस्त्रिलोक्या मलिवग्गपूर्व-
ब्रह्मेतिसंज्ञस्त्रिदशाग्रगण्यः ।
मलीवराजेत्यपराभिधानो
न्यायप्रियत्वेन बिभर्ति कीर्तिम् ।।11।।

रामेण कर्माचरितं जघन्यं
मद्देशमाक्रान्तवतेति तथ्यम् ।

तदनन्तर श्रीरघुनन्दन ने रावण सेना को
एक-एक करके वध डाला सहज वहाँ।
वे कटे हुए सिर वाले दानव दिखते ज्यों
शाखा-विहीन तरु के समूह हों पड़े वहाँ ॥ ७ ॥

सारे दानव थे धरती पर ही गिर पड़े
बह रहा रक्त वे लोट रहे जैसे अनाथ।
उस सबकी ऐसी दशा देख कर व्यथित हृदय
चिन्ता तरंग में डूब रहा दनुजाधिनाथ ॥ ८ ॥

यदि ऐसी स्थिति रही तो कुछ दिन में सहसा
मेरी सारी सेना का क्षय ही निश्चित है।
इसलिए, इस समय मुझको कुछ करना होगा
अन्यथा यहाँ मेरा विनाश भी निश्चित है ॥ ९ ॥

श्री रामचन्द्र नामक विपत्ति से मुक्ति हेतु
रावण ने सोच-समझ कर यही उपाय किया।
इस समय पितामह ब्रह्मा से प्रार्थना उचित
ऐसा ही निश्चित कर उनका ही ध्यान किया ॥ १० ॥

मलिवग्ग नाम से हैं प्रसिद्ध जो ब्रह्मा हैं
त्रिभुवन के स्वामी, देवों में वे हैं महान्।
वे मलीवराज नाम से सदा विख्यात रहे
है न्याय उन्हें प्रिय, यश-गौरव दिखता महान् ॥ ११ ॥

श्री रामभद्र ने किया जघन्य कर्म प्रभुवर !
आक्रमण किया है लंका पर तथ्य भी यही।

पितामहो यद्यवबोधितः स्यात्
प्रत्यायितश्चापि विनिश्चयेन ।। 12 ।।

न्यायप्रियत्वाद् ध्रुवमेष रामं
शपेत कोपस्य वशं गतः सन् ।
न्यायप्रियोऽयं नहि रेखयाऽपि
न्याय्यात्पथः प्रच्यवनं सहेत ।। 13 ।।

शप्तोऽमुना स्याद्यदि राघवो नु
वर्चस्वहीनः स विनाशमेयात् ।
तस्मिंश्च नष्टे सकलाऽस्य सेना
दिशो द्रवेन्नौरिव नेतृहीना ।। 14 ।।

एवं स्थिते सर्वमनोरथा नः
सिध्येयुरित्यत्र न संशयोऽस्ति ।
एवं शठो नैकविधं कुतर्क-
जालं स्वचित्ते रचयाम्बभूव ।। 15 ।।

विरच्य तं कामपि निर्वृतिं स
भजन् स्वदूतावयमाजुहाव ।
कार्ये पटू नान्यविगेतिवायु-
वेगेतिसञ्ज्ञौ समुवाच तौ च ।। 16 ।।

यातां भवन्तौ चतुराननस्य
लोकं स्थितिं वेदयताममुं च ।
एतुं भुवं प्रेरयतां जघन्यं
दुष्कर्मिणं दण्डयितुं च रामम् ।। 17 ।।

यदि इसे पितामह जान गये तो सहजरूप
उपचार कदाचित् हो सकता है निश्चित ही ॥ १२ ॥

न्याय पर अटल हैं ब्रह्मा, अस्तु राम को वे
अभिशप्त करेंगे यदि वे, क्रोधित हुए सहज ।
है यहाँ न्यायप्रिय जो, वह निश्चित ही न तनिक
न्याय के पन्थ से हट सकता है नीति सहज ॥ १३ ॥

अभिशप्त हो गये ब्रह्मा से यदि रामचन्द्र
तो होगा उनका नाश जो कि वर्चस्वहीन ।
उनके विनाश के बाद सकल सेना उनकी
भटकेगी नौका के समान नाविक विहीन ॥ १४ ॥

ऐसी स्थिति में मेरे सभी मनोरथ भी
हो जायेंगे परिपूर्ण नहीं सन्देह यहाँ ।
इस भाँति दुष्ट रावण अपने चित में कुतर्क
के जाल बुन रहा था नानाविध सहज वहाँ ॥ १५ ॥

उसको बुनकर वह तृप्त हो गया एतदर्थ
इस कार्य हेतु उसने दूतों को बुला लिया ।
वे नान्यवेग और वायुवेग नामक पटु थे
उन दोनों से रावण ने था इस भाँति कहा ॥ १६ ॥

'तुम दोनों जाकर ब्रह्मलोक में इसी समय
चतुरानन से सारी स्थिति को बतलाओ ।
दुष्कर्म राम ने किया यहाँ पर जो जघन्य
फलतः दंडित करने को उनको उकसाओ' ॥ १७ ॥

तत्प्रार्थनं कर्णगतं विधाय
लोकात्स्वकीयाद् विबुधैः समेतः ।
सद्यो विधाताऽवततार पृथ्वीं
चयस्त्विषामित्यवभासमानः ।। 18 ।।

न वादिनो वा प्रतिवादिनो वा
सेनासमूहेऽवततार धाता ।
निष्पक्षतामात्मनि बिभ्रदेष
माध्यस्थ्यमत्रापि समाललम्बे ।। 19 ।।

एकत्र सेना दशकन्धरस्या-
ऽपरत्र चासीद्रघुनन्दनस्य ।
सेनाद्वयस्यैव स मध्यभागे
विविक्तभूमौ समुपस्थितोऽभूत् ।। 20 ।।

रामस्य दण्डं दशकन्धरेण
सम्प्रार्थितोऽसौ समुवाच वाचम् ।
यावन्न शृण्वे रघुनन्दनस्य
वाक्यं तथा वा जनकात्मजायाः ।। 21 ।।

यावच्च देवौघ उपस्थितोऽत्र
जायेत नैतद्व्यवहारसाक्षी ।
न्यायार्थमत्रागतवानहं भो !
न निर्णयं तावदहं प्रवक्ष्ये ।। 22 ।।

आदेशतो ब्रह्मण एवमाशु
सीता समानाय्यत तत्समक्षम् ।

दूतों से रावण की प्रार्थना सुनी विधि ने
तत्काल सभी देवों को लेकर आये वे।
उनके मुख मण्डल पर आभा थी भासमान
उस समय तुरत पृथ्वी पर उतरे ब्रह्मा थे ॥ १८ ॥

वादी अथवा प्रतिवादी की सेना समूह
में नहीं गए चतुरानन भी पर उतरे जब।
निष्पक्ष भाव अपनी आत्मा में रखकर वे
मध्यस्थ भाव अपनाया-विधि ने सहसा तब ॥ १९ ॥

थी एक ओर सेना दशकन्धर की स्थित
दूसरी ओर रघुनन्दन के वे वीर रहे।
उन दोनों सेनाओं के मध्य भाग में ही
ब्रह्मा उस खाली धरती पर ही खड़े रहे ॥ २० ॥

राम को दण्ड देने को कहा दशानन ने
प्रार्थना सुनी रावण की विधि ने कहा वहाँ।
'जब तक रघुनन्दन की अथवा उन सीता की
सारी बातें सुन लूं मैं रावण ! अब न यहाँ ॥ २१ ॥

व्यवहार साक्षी रूप न जब तक बनें देव
इस समय जो कि हैं साथ उपस्थित सहज वहाँ।
तब तक न कर सकूंगा कोई निर्णय मैं भी,
इसलिए कि मैं तो आया हूं न्यायार्थ यहाँ ॥ २२ ॥

आदेश हुआ ब्रह्मा का तत्क्षण इसीलिए
सीता उनके संमुख थी लाई गयी वहाँ।

कपिप्रवीरैः पिशिताशनैश्च
वृत्तं यथावृत्तमभिप्रवक्तुम् ।।23।।

विदेहजाया वचनं तथा च
रामस्य सर्वे विबुधा अशृण्वन् ।
तेषां प्रमाणेन मलीवराजः
कृतागसं रावणमभ्युपागात् ।।24।।

शापं स तस्मै व्यसृजत्समन्युः
श्रीराघवेन्द्रास्त्रवधाभिसन्धिम् ।
विसृज्य शापं च सुरैः समेतो
यथागतं स प्रययौ स्वधाम ।।25।।

व्रीडावनम्रो दशकन्धरोऽपि
स्वचिन्तितार्थप्रतिकूलभावात् ।
विच्छायवक्त्रोऽर्क इवोपरक्त-
श्चिन्ताचिताध्वस्त इवाबभासे ।।26।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

सर्वथाऽनिष्टचिन्तानां परदारापहारिणाम् ।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ।।27।।

दानव के साथ गये थे वानर लाने को
जो हुआ उसे कहना था सीता को भी वहाँ ॥ २३ ॥

वैदेही की सारी बातों के साथ-साथ
राम की बात भी देवों ने थी सुनी वहाँ।
उन बातों के प्रमाण से स्वयं विधाता भी
थे समझ गये रावण अपराधी सहज यहाँ ॥ २४ ॥

'राघव के बाणों से ही इसका वध होए'
ब्रह्मा ने रावण को था ऐसा शाप दिया।
देकर उसको यह शाप सभी देवों समेत
आये थे जैसे वैसे ही प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

लज्जावश हुआ दशानन सहसा अधोमुखी
उसको अपने चिन्तन से था प्रतिकूल दिखा।
सूर्य के सदृश उस पर जैसे लग गया ग्रहण
चिन्ता की चिता मध्य वह जलता हुआ दिखा ॥ २६ ॥

जो सदा सोचते पर अनिष्ट
परदारा का अपहरण करें।
अभिप्राय न उनका हुआ सिद्ध
इसलिए जगत् भी रहा करे ॥ २७ ॥

सप्तदशः सर्गः

(रावणात्मोपाख्यानम्)

(स्वागतावृत्तम्)

यत्नजातमभितः प्रविलोक्य
जेतुमाहवमृते रघुवंश्यम्।
निष्फलं दृढमतिं प्रविधाय
रावणः समरभूमिमुपेतः ॥1॥

तादृशः समभवत् किल घोरः
सङ्गरोऽतिभयदस्त्रिजगत्सु।
राघवेन्द्रदशकन्धरयोर्यो
न श्रुतो नहि च वा परिदृष्टः ॥2॥

तत्कुतूहलवशात्समुपेता
अद्भुतं तमवलोकयितुं द्राक्।
सिद्धयक्षमुनिपन्नगपूगा
देवता इतरभूतगणाश्च ॥3॥

शौर्यमत्र समरे रघुवंश्य-
स्यात्यरिच्यत न चापि दशास्यः।
पर्यहीयत मनागपि शस्त्रै
राघवस्य निशितैरपि धीरः ॥4॥

सप्तदश सर्ग

(रावणात्मोपाख्यान)

देखकर सकल असफल प्रयत्न
राम को जीतने को रण में ।
रावण आ पहुंचा समरभूमि
करके वह दृढ़ निश्चय मन में ॥ १ ॥

रण ऐसा हुआ भयंकर वह
राघव-रावण के मध्य वहीं ।
देखा अथवा जो सुना गया
त्रिभुवन में ऐसा युद्ध नहीं ॥ २ ॥

वह अद्भुत दृश्य देखने को
कौतूहलवश अतिशीघ्र वहाँ ।
मुनि-पन्नग-यक्ष-सिद्ध-सुरगण
अन्यान्य भूत आ गये वहाँ ॥ ३ ॥

शौर्य में राम रावण रण में
दिखते न परस्पर स्वल्प वहाँ ।
राघव के शस्त्रों के समक्ष
रावण न दिख रहा अल्प वहाँ ॥ ४ ॥

सत्यपीत्थमभवत्क्षतिरस्य
नैव, नैव च बभूव कथञ्चित् ।
अङ्गभङ्ग इति चित्रमिवासीत्
कारणस्य न च बोध इहासीत् ।।5।।

प्रस्नवद्गिरिणदीजलधारा-
वद् ववर्ष बलवच्छरधाराः ।
रावणे दशरथात्मजचापो
विव्यथे नहि च राक्षसराजः ।।6।।

कृत्तमङ्गमभवत् पुनरस्य
युक्तमित्यतिविचित्रमिवासीत् ।
तत्समीक्ष्य सकलस्थितिविद्वान्
रावणानुज उवाच सुविद्वान् ।।7।।

स्थापितोऽस्ति खलु पञ्जर आत्मा
रावणस्य दनुजप्रवरस्य ।
पञ्जरं लसति चास्य गुरोर्गो-
पुत्रसंज्ञकऋषेर्निलये भोः ।।8।।

यावदेष नहि हन्यत आर्य !
तावदस्य हननं सुशकं नो ।
आत्मनो यदि भवेद्धननं प्राग्
निश्चितं भवति तद्धननं भोः ।।9।।

तां निशम्य तु विभीषणवाच-
मुद्यतः कपिरभूद्धनुमान् द्राक् ।

रावण न तनिक क्षत-विक्षत था
वह अंग-भंग भी हुआ नहीं।
इस विचित्रता का कारण तो
समझा था कोई वहाँ नहीं ॥ ५ ॥

गिरि-सरिता जलधारा समान
राम के बाण बरसते वहीं।
पर, रावण के ऊपर उनका
कुछ दुष्प्रभाव पड़ सका नहीं ॥ ६ ॥

कटता जो अंग पुनः जुड़ता
ऐसी यह बात विचित्र हुई।
देखकर विभीषण ने इसको
जानंता स्वयं वह बात कही ॥ ७ ॥

'आत्मा दशानन दानव की
पंजर के अन्दर पड़ी हुई।
पंजर उसके गुरु के समीप
मुनि गोपुत्रक के भवन रही ॥ ८ ॥

जब तक न वधेगें उसे आर्य !
रावण मर सकता कभी नहीं।
यदि पहले वधे आत्मा को
तो निश्चित ही यह मरे यहीं ॥ ९ ॥

सुन वचन विभीषण के तत्क्षण
हनुमान् सहज तैयार हुए।

आत्मनो हननमस्य विधातु-
माश्रमे ऋषिवरस्य च यातुम् ।। 10 ।।

रामभद्रमयमाह तरस्वी
कार्यमेतदहमस्मि विधाता ।
शीघ्रमेव भविता तव चिन्ता
मत्प्रयत्नवशतो व्यपयाता ।। 11 ।।

युक्तिमाश्रितवता मयका भो-
याश्रितो भवति चेच्छलमार्गः ।
नाहमस्मि भवता परिदृश्यः
संशयेन मनसाऽपि कदापि ।। 12 ।।

एवमस्त्विति महात्मनि रामे
प्रोक्तवत्यथ कपिर्द्रुतगत्या ।
अङ्गदेन सहितः प्रययौ गो-
पुत्रसञ्ज्ञकऋषेर्वरधाम ।। 13 ।।

प्राप्य चैनदयमाह ऋषिं तं
मान्य ! तेऽस्मि शरणं प्रतिपन्नः ।
रामनामकजनं परिचर्य
नांशतोऽपि फलमस्त्यृषिवर्य ।। 14 ।।

तेन मान्यवर ! विप्रकृतोऽस्मि
धिक्कृतोऽस्मि बहु चापकृतोऽस्मि ।
न क्षणं क्षणमपि प्रतिपन्न-
स्त्वां शरण्यमहमस्म्युपपन्नः ।। 15 ।।

उसकी आत्मा के वध-हितार्थ
ऋषि आश्रम जाने वाले वे ॥ १० ॥

राम से उद्यमी बोला वह
'यह कार्य करूँगा स्वयं आर्य !
मेरे प्रयास से यथाशीघ्र
तव चिन्ता होगी दूर आर्य !' ॥ ११ ॥

'ऐसा ही हो' राम ने कहा
तब कपि द्रुतगति से चला वहाँ।
गोपुत्र मुनीश्वर के आश्रम
अंगद के संग कपि गया वहाँ ॥ १२ ॥

युक्ति का आश्रय लेकर मैं
यदि छल से कार्य बनाऊँ भी।
तो आर्य न करें तनिक संशय
अपने मन में हे प्रभो ! कभी ॥ १३ ॥

ऋषि के समक्ष जाकर बोला—
'आपकी शरण में मैं मुनिवर।
राम की की परिचर्या, पर
कुछ भी फल नहीं मिला ऋषिवर !' ॥ १४ ॥

हे मुने ! मुझे आघात लगा
मैं हुआ व्यर्थ धोखा खाया।
क्षण भर न मिली कुछ शान्ति, अस्तु
आपकी शरण में मैं आया ॥ १५ ॥

न कृतघ्नसविधे वसतिर्मे
रोचतेऽति सरलो मनसाऽस्मि ।
यो निजाश्रितजने नहि साधु-
स्त्याग एव खलु तस्य तु साधुः ।। 16 ।।

रावणं मनसि सेवितुमिच्छा
प्रोद्यता मम ततोऽहमुपेतः ।
अङ्गदेन सह तन्नय मां तं
साधु स व्यवहरेन्मयि साधुः ।। 17 ।।

आश्रितं स सुतरां गुणगृह्यो
मामवश्यमवितेति मतिर्मे ।
पादपङ्कजरजोऽस्य मम स्या-
दङ्गराग इति मे हृदि रागः ।। 18 ।।

तं भवान् सपदि पूरयतामि-
त्यर्थना मम भवत्यृषिवर्ये ।
अर्थिनं खलु विदध्युरुदार-
बुद्धयो जगति नैव निराशम् ।। 19 ।।

तद् भवान्नयतु मामतिशीघ्रं
रावणं भवतु येन शुभं मे ।
तादृशस्य गुणगृह्यजनस्य
सेवय. सुकृतिनोऽद्य कृती स्याम् ।। 20 ।।

पुण्यवानसि कपे हनुमंस्त्वं
यस्य तावदुदिता शुभबुद्धिः ।

हूँ सरलहृदय, अच्छा न लगे
मुझ को कृतघ्न के निकट वास ।
जो निज आश्रित का ध्यान न दे
उत्तम है उस साधु का त्याग ॥ १६ ॥

मन में रावण की सेना की
इच्छा लेकर आ गया यहाँ ।
रावण है साधु, अस्तु मुझको
अंगद के संग ले चले वहाँ ॥ १७ ॥

आश्रित का गुण-ग्राहक रावण
मैं वहाँ सुरक्षित भाव यही ।
उसके पदपंकज के रज से
मेरे उर में अनुराग यही ॥ १८ ॥

शीघ्र ही आप पूरी कर दें
मेरी साधना यही मुनिवर !
जो हैं उदारमति जग में वे,
दिखलाते कृपा याचकों पर ॥ १९ ॥

इसलिए, ले चलें वहाँ शीघ्र
रावण मेरा कल्याण करें ।
ऐसे गुण-ग्राहक की सेवा
करके हम जीवन सफल करें ॥ २० ॥

'तुम पुण्यवान हो कपि हनुमत् !
जागी है शुभमति तेरी अब ।

सेवया दनुजराजवरस्य
जीवितं सफलमातनु वीर ! ।।21।।

चीवरावृततनुर्वनवासी
राज्यतो विरहितः क्व नु रामः ।
वैभवावृततनुः क्व च रे ! दिक्-
चक्रवालविजयी दशकण्ठः ।।22।।

नाममात्रमपि यस्य रिपूणां
मानसं वितनुते भयकम्प्रम् ।
सोऽखिलस्य भुवनस्य विजेता
रावणोऽस्ति यशसां भुवि चेता ।।23।।

कर्मणा च मनसाऽथ च वाचा
रावणं परिचरेर्नियमेन ।
त्वं यदि त्वयि भवेद्धनुमन् ! सो-
ऽवश्यमेव हृदयेन कृपालुः ।।24।।

सेवितोद्यप्रभृति[1] त्वयकाऽसौ
यौवनेऽपि मुनिवेषधरो रे ।
रामचन्द्र इति कीर्तितनामा
ऽकिञ्चनो जगति किञ्चनबुद्धिः ।।25।।

रावणं परिचर त्वमनन्त-
वीर्यमन्तरमवेहि च तात ।
रत्नराशिपरिपूर्णमवश्यं
त्वां विधास्यति स लोकसुरत्नम् ।।26।।

1. 'हे प्रे वा' इत्याश्रित्य प्रयोगः ।

उस दनुजराज की सेवा से
जीवन हो सफल तुम्हारा अब ॥ २१ ॥

हैं कहाँ राम वल्कलधारी
राज्य रहित वनवासी वह ?
वैभव सम्पन्न कहाँ रावण
दिग्विजयी जग का स्वामी वह ॥ २२ ॥

जिसका सुन करके नाम मात्र
रिपु के मन में भय लगे सहज ।
वह अखिल विश्व का विजयी है
यश उसका भू पर भरा सहज ॥ २३ ॥

यदि तुम मन-वचन-कर्म द्वारा
उसकी सेवा करते हो तुम ।
यदि होगा तुम में यही भाव
तो पाओ उसकी करुणा तुम ॥ २४ ॥

आज तक जिसकी सेवा की
वह रामचन्द्र तो बुद्धिहीन ।
यौवन में भी मुनिवेष धरे
दिख रहे जगत् में दीन हीन ॥ २५ ॥

रावण अनन्त बलवीर्यवान्
तुम उसकी सेवा करो तात !
तुम रत्नराशि से पूर्ण सदा
बन जाओगे फिर वहाँ तात ॥ २६ ॥

माननामयमवैति विधातु-
मात्मनीननिजभक्तजनस्य ।
रामतस्त्वधिगतो ह्यवमानः
साम्प्रतं भवतु ते बहुमानः ।।27।।

गच्छ तावदधुना हनुमंस्त्वं
रावणं च समुपेहि शरण्यम् ।
सत्यमेव स्वपदाम्बुजयुग्म-
सेवया सफलयिष्यति स त्वाम् ।।28।।

एवमुक्तवति वाचमुदारां
रावणस्य दनुजस्य गुरौ सः ।
वाचमेवमनिलस्य तनूजो
वक्तुमेनमुपचक्रम आशु ।।29।।

यत्त्वमात्थ ऋषिवर्य तथैव
कामये तु दशकण्ठमुपैतुम् ।
आगतोऽयमरिपक्षत एवं
यद्ययं तु विपरीतमतिः स्यात् ।।30।।

नाभ्युपैष्यति कदाचिदपि प्राक्-
स्वाहिताचरणवृत्तिमयं माम् ।
दृष्टिरेव मम मन्युवशं तं
संनयेदिति भयं मम तात ।।31।।

नैव दर्शनमपि प्रसहेत
क्रोधवह्निविदहद्धृदयेन ।

निज भक्तों के कल्याण हेतु
रावण रखता है सदा ध्यान।
राम से मिला अपमान तुम्हें
अब मिले तुम्हें सम्मान-मान ॥ २७ ॥

जाओ हनुमत्! तुम इसी समय
दशकंठ शरण में यथाशीघ्र।
सत्यत: पाद पंकज सेवा
जीवन कर देगी सफल शीघ्र।' ॥ २८ ॥

रावण के गुरु के कहने पर
ऐसी उदारवाणी उस क्षण।
वायु के पुत्र ने इस प्रकार
कह दिया मुनीश्वर से तत्क्षण ॥ २९ ॥

'आपने कहा जैसा मुनिवर!
चाहता दशानन निकट गमन।
शत्रु के पक्ष से आने पर
उसकी गति में हो परिवर्तन ॥ ३० ॥

मेरा पूर्व का आचरण समझ
देगा न शरण ऐसा निश्चय।
देखकर मुझे वह बने, कुपित
इस समय मुझे यों लगता भय ॥ ३१ ॥

क्रोध से दग्ध है हृदय, अस्तु
मेरा दर्शन सह सके न वह।

यावदेष विनिवेद्यत एव
तावदेव स तु मां प्रणिहन्यात् ।।32।।

अङ्गदं च सकृदेव स खड्ग-
पातनेन मम पुत्रसमानम् ।
वज्रपात इव खड्गनिपातः
खण्डशः प्रविदधीत ऋषे ! तम् ।।33।।

बुद्धिमानपि विवेकयुतोऽपि
शास्त्रशीलनपरोऽपि बुधोऽपि ।
क्रोधमार्गमभितः प्रतिपन्नो
नो विचिन्तयति कार्यमकार्यम् ।।34।।

एवमेव यदि तात! घटेत
यादृशी भवति मे हृदि शङ्का ।
तन्महान्तमनुतापमनर्थं
विप्लवं च तनुयादनभीष्टम् ।।35।।

तस्य वारणमभीष्टतमं न-
स्तत्र नो हितमथो निहितं नः ।
तत् सहैव भवता गमनं मे
रोचते भवदभीष्टमिदं चेत् ।।36।।

एवमस्त्विति ऋषौ निजवाचं
प्रोक्तवत्यथ कपिः सह तेन ।
अङ्गदेन च सहोद्युयुजे द्राग्
रावणोपगमनाय हितेन ।।37।।

जब तक हो नम्र निवेदन मम
तब तक वध देगा मुझको वह ॥ ३२ ॥

अंगद है मेरा पुत्र-तुल्य
उस पर वह खड्ग चलायेगा।
जो वज्रपात सम है उससे
वह खण्ड-खण्ड हो जायेगा ॥ ३३ ॥

जो है विवेकयुत बुद्धिमान
ज्ञानी अथवा शास्त्रज्ञ अधिक।
क्रोध सहज हो जाने पर
सोचता न कार्य-अकार्य तनिक ॥ ३४ ॥

यदि ऐसा ही हो गया तात !
मन में जो शंका उठी सहज।
हो तात-अनर्थ-विप्लव महान्
होगा अनिष्ट का योग सहज ॥ ३५ ॥

उसका वारण भी है अभीष्ट
अन्यथा न हित हो सके वहाँ।
इसलिए, साथ ही चलें आप
तो हो अभीष्ट की सिद्धि वहाँ ॥ ३६ ॥

'ऐसा ही हो कहकर मुनिवर
कपि के संग ही तैयार हुए।
अंगद को साथ तुरत लेकर
लंका-गमनार्थ विचार किये ॥ ३७ ॥

आह चापि गमनात्प्रथमं गो-
पुत्रसंज्ञकमृषिं कपिवीरः ।
पञ्जरं नय ऋषे! सममेव
मा स्म चूचुरदिदं रघुवंश्यः ।। 38 ।।

पञ्जरेऽत्र निहितोऽस्ति पुलस्त्य-
नन्दनस्य भुवि नन्दित आत्मा ।
रक्षणेऽस्य सुतरां प्रविधेयो
यत्न इत्यवहितः शृणु मां त्वम् ।। 39 ।।

आश्रमादपगतं तपआढ्यं
त्वां विलोक्य कपटी रघुवंश्यः ।
हारयेत्स्वयमिदं तु हरेद् वा
वेद कः कपटिनां खलु वृत्तम् ।। 40 ।।

तत्सहैव नय पञ्जरमेतन्
मा स्म शत्रुकर एतदुपागात् ।
अन्यथा महदनिष्टमृषे! नः
सम्भवेदिति वचो मम विद्धि ।। 41 ।।

शुद्धहृच्च सरलश्च प्रकृत्या
ऽबुद्ध नो कपिहृदि ह्यभवद्यत् ।
अभ्युपेत्य च वचः खलु तस्य
पञ्जरं समनयत्स सहैव ।। 42 ।।

यावदेष पवनस्य सुतेन
चाङ्गदेन च सहाप तु लङ्काम् ।

ऋषि के चलने के पूर्व वहाँ
हनुमत ने भी यह बात कही।
'पंजर ले चले साथ मुनिवर
राघव ने चुरा ले उसे कहीं ॥ ३८ ॥

पंजर में निहित दशानन की
आत्मा, लोक में जिसका यश।
उसकी रक्षा अनिवार्य तात !
सुन ले यह मेरी बात सहज ॥ ३९ ॥

हैं तपोनिष्ठ आश्रम सूना
लखकर कपटी वे राम सहज।
इसका अपहरण करा लेंगे
जानता कौन धूर्त का चरित ॥ ४० ॥

तो पंजर भी ले चलें साथ
अन्यथा गया यह शत्रु-हाथ।
जिससे होगा महान् अनिष्ट
समझें मेरी यह बात तात ॥ ४१ ॥

ऋषि शुद्ध हृदय थे सरल प्रकृति
नहिं समझ सके कपि-हृदय बात।
आ गये उसी की बातों में
पंजर भी था ले लिया साथ ॥ ४२ ॥

जैसे ही हनुमत् संग तथा
लंका आये अंगद समेत।

तावदापतितवत्यतिघोरा
ऽचिन्तिता च विषमा च समस्या ।।43।।

क्राम्यते ऋषिवरेण तु सीमा
रावणस्य नगरस्य यदि द्राक् ।
पञ्जराद्बहिरुपेत्य तदात्मा
तं द्रवेत तमनुप्रविशेच्च ।।44।।

तेन चास्य हननं सुशकं स्या
न्नाभवच्च समभीष्टमृषेस्तत् ।
किं नु कार्यमधुनेति स चिन्तां
मानसार्तिकरणीं प्रतिपेदे ।।45।।

चिन्तयन् बहु च तत्र स तूष्णीं
तस्थिवान् नहि ततो ययिवांश्च ।
तादृशं समवलोक्य कपिस्तं
सादरं गिरमिमां प्रतिपेदे ।।46।।

केयमस्ति ऋषिवर्य ! तवार्तिः
सेवकौ तव समीप इहावाम् ।
ब्रूहि तन्मनसि या तव चिन्ता
मा स्म भो ! व्यथितमानस आस्स्व ।।47।।

तावृषिः सकलमाह तदास्त
मानसे विकलताजनकं यत् ।
तन्निशम्य पवनात्मज एन-
मूर्जितं वच उवाच विपश्चित् ।।48।।

वैसे ही थी आ पड़ी घोर
वह विषम-समस्या भी अचेत ॥ ४३ ॥

यदि मुनिवर भी शीघ्रातिशीघ्र
लंका की सीमा पर करें।
पंजर से निकल आत्मा वह
रावण में तभी प्रवेश करें ॥ ४४ ॥

जिससे उसका वध निश्चित है
ऋषि का अभीष्ट यह कभी नहीं।
क्या करें यही चिन्ता उनके
मानस को करती दुःखी रही ॥ ४५ ॥

सोचते-सोचते हुए शान्त
थे खड़े न आगे बढ़े वहीं।
कपि उन्हें देखकर इसी भाँति
सादर उनसे यह बात कही ॥ ४६ ॥

क्या है ऋषिवर ! आपका कष्ट
हम सेवक है तव निकट यहाँ।
जो चिन्ता है कह दें हमसे
इस भाँति व्यथित मत बने यहाँ ॥ ४७ ॥

ऋषि ने उनसे सब बात कही
अपने मानस की व्याकुलता।
यह सुनकर बोले पवन-पुत्र
उत्साहपूर्ण निज तत्परता ॥ ४८ ॥

नैव किञ्चिदिव चिन्त्यमिहास्ति
मा स्म चिन्तनकृते स्वमनो दाः ।
अङ्गदोऽत्र खलु तिष्ठतु सीम्नि
त्वत्समं गमनमस्तु ममैव ।। 49 ।।

अङ्गदस्य यदि तिष्ठति हस्ते
पञ्जरं नहि समुत्प्लवनं स्यात् ।
आत्मनस्तदिह तिष्ठतु सोऽत्र
द्वावुभावपि दशास्यमुपेवः ।। 50 ।।

एवमस्त्विति ऋषावुपपन्ने
पञ्जरं व्यलसदङ्गदहस्ते ।
द्वावृषिश्च हनुमांश् च तदानीं
जग्मतुर्दशमुखस्य पुरीं तौ ।। 51 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

यावदध्वाऽभवत्कश्चिदतिक्रान्तस्तदाऽवदत् ।
ऋषिं गोपुत्रनामानं रावणस्य गुरुं कपिः ।। 52 ।।

किञ्चिदावश्यकमृषे ! सन्देष्टव्योऽङ्गदो मया ।
क्षणमात्रं भवानत्र तिष्ठत्वायामि शीघ्रतः ।। 53 ।।

ओमित्युक्तेऽथ ऋषिणा वायुवेगेन निर्ययौ ।
वायोः सुतः क्षणेनैव चाङ्गदं प्राप चाह च ।। 54 ।।

देहि मे पञ्जरं तात ! तत्करिष्येऽत्र येन नः ।
सेत्स्यन्ति सकला एव चिन्तितार्था असंशयम् ।। 55 ।।

'कुछ भी चिन्ता की बात नहीं
ऐसा चिन्तन मन में करें।
अंगद सीमा पर रहें यहीं
बस आप हमारे साथ चलें ॥ ४९ ॥

यदि अंगद पञ्जर लियें रहें
तो जा सकती आत्मा नहीं।
वह आत्मा के संग यहाँ रुके
हम चलें दशानन-निकट वहीं ॥ ५० ॥

'ऐसा हो' कहकर मुनिवर ने
पंजर अंगद को थमा दिया।
हनुमान और ऋषि उसी समय
दशमुख के पास पयान किया ॥ ५१ ॥

जैसे ही वे कुछ दूर गये ऋषि और कपीश्वर साथ-साथ।
तब तक हनुमत ने मुनिवर से सहसा रुककर यह कही बात ॥ ५२ ॥

कुछ है सन्देश कि आवश्यक अंगद से कहना मुझे शीघ्र।
क्षण भर रुक जायें यहाँ आप मैं भी आता हूं यथाशीघ्र ॥ ५३ ॥

'ठीक है' कहा ऋषिवर ने जब कपि वायुवेग से गया वहाँ।
जाकर हनुमत् ने अंगद से उस समय कहा इस भाँति वहाँ ॥ ५४ ॥

'दे दो पंजर अब मुझे तात ! मैं वही करूंगा जिससे ही।
हो सकें मनोरथ पूर्ण सकल जिसकी चिन्ता निःसंशय ही ॥ ५५ ॥

पञ्जरं तत आदाय रावणात्मानमेव च ।
तत्स्थाने नूतनं कृत्वा तत्र स्थापितवान् कपिः ।।56।।

अङ्गदो मूलमात्मानं हनूमत्सम्प्रचोदितः ।
समुद्रतीरे न्यखनद्येन नाविर्भवेदयम् ।।57।।

अङ्गदेन दृढं तावन्निखाते रावणात्मनि ।
असम्भवत्वे तद्योगे रावणेन कथञ्चन ।।58।।

रावणो वध्यकोटित्वं जगाम परमास्त्रवित् ।
अहन्यत च तीक्ष्णाग्रैः शरै रामाभिवर्षितैः ।।59।।

दशग्रीववधे तावद्धनूमान् युक्तिमास्थितः ।
श्रीरामस्य परो भक्तो निमित्तत्वं समाययौ ।।60।।

स्वामिनो हितसिध्द्यर्थं तदेकाग्रेण चेतसा ।
प्राणानपि प्रियान् सत्यं पणीकुर्वन्ति सेवकाः ।।61।।

'न विश्वसेदविश्वस्तं विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्' ।
थाइरामायणीयेदं सत्यापयति सत्कथा ।।62।।

प्रकृत्या सरलोऽत्यन्तं विश्वासं समुपेयिवान् ।
गोपुत्रो वायुतनये तेनाभूदतिसंहितः ।।63।।

निमित्तं च बभूवासौ विनाशेऽतिप्रतापिनः ।
प्रियस्य स्वस्य शिष्यस्य शत्रौ प्रत्ययमीयिवान् ।।64।।

पंजर हनुमत् ने लिया तुरत रावण की आत्मा बसी जहाँ।
आत्मा नवीन बना कपि ने उसमें की स्थापिता वहाँ ॥ ५६ ॥

कपि के कहने से अंगद ने मूलात्मा पंजर से लेकर।
खोदकर एक गड्ढा उसको था गाड़ दिया सागर तट पर ॥ ५७ ॥

अंगद ने दृढ़ता से रावण की आत्मा को गर्त में गाड़ दिया।
रावण से मिलन आत्मा का हो गया असंभव सहज वहाँ ॥ ५८ ॥

रावण था यद्यपि महावीर वध की कोटि में आ गया सहज।
राम के तीक्ष्ण वाणों से वह मृत्यु को प्राप्त हो गया सहज ॥ ५९ ॥

रावण के वध हित हनूमान् ने युक्ति बनाई जो विचित्र।
उससे श्रीरामभक्त ने यों कर लिया सिद्ध वैसा निमित्त ॥ ६० ॥

स्वामी के हित की सिद्धि हेतु एकाग्रचित्त से करें वही।
अपने प्रिय प्राण निछावर कर सेवक करते ही कार्य सही ॥ ६१ ॥

विश्वास अविश्वासी पर क्या विश्वासी पर विश्वास नहीं।
यह बात 'थाइ रामायण'की यह कथा प्रमाणित करे यहीं ॥ ६२ ॥

जो था अति सरल स्वभाव सहज उसने विश्वास किया सहसा।
वायु के पुत्र से गोपुत्रक के साथ हुआ इससे ऐसा ॥ ६३ ॥

शत्रु का किया विश्वास, अस्तु ऋषि बने विनाश के हेतु सहित।
जो परम शिष्य प्रिय था उनका उसका उनसे हो गया अहित ॥ ६४ ॥

अष्टादशः सर्गः

(महीपालदेवासुरोपाख्यानम्)

(भुजङ्गप्रयातवृत्तम्)

दशास्ये गते राक्षसे मृत्युलोकं
सहायैः सह स्वां निवृत्ते च रामे ।
पुरीं, सर्ववृत्तानभिज्ञः समागा-
न्महीपालदेवः पुरीं नाम लङ्काम् ।।1।।

सखाऽभूद्दशास्यस्य सोऽतिप्रतापी
प्रशास्ता भुवश्चक्रवालाभिधायाः ।
चिरायास्ति दृष्टो मया नो सुहृत्तन्
मया सोऽभ्युपेतव्य एवेति बुद्धिम् ।।2।।

समास्थाय सोऽभ्यागमत्तत्र लङ्कां
समागम्य यावच्च वृत्तं विषण्णः ।
विवेदाखिलेनाभवत्तावदेव
स्फुरत्कोपवह्निप्रदग्धान्तरङ्गः ।।3।।

हतो मे सखा राघवेणानुजस्य
दशास्यस्य साह्येन लोकाधिपोऽपि ।
अतस्तस्य मृत्योः प्रतीशोधमद्य
विधास्याम्यहं तस्य बन्धुः प्रियोऽहम् ।।4।।

अष्टादश सर्ग

(महीपाल देवासुरोपाख्यान)

दानवपति रावण के मरने के बाद तथा
जब राम अयोध्या लौट गये साथियों सहित ।
महिपाल देव नामक जा पहुँचा लंका में
जो सारी घटनाओं से रहा नहीं परिचित ॥ १ ॥

वह सखा दशानन का अत्यन्त प्रतापी था
जो चक्रवाल नामक प्रदेश का शासक था ।
जब बहुत समय से नहीं मित्र से मिले, अस्तु
अब जायें उसके पास इसे ही सोचा था ॥ २ ॥

ऐसा विचार कर वह आया जब लंका में
तब आते ही दुःख का सारा वृत्तान्त सुना ।
सुनते ही अखिल कष्टकारक दुःसमाचार
उसका कोपानल ज्वलित हो उठा कई गुना ॥ ३ ॥

वह सखा राम के द्वारा मेरा वधा गया
उस लोकेश्वर का अनुज सहायक था वध में ।
प्रतिशोध, अस्तु, उसकी हत्या के लिए मुझे
करना होगा, हम बंधु परमप्रिय हैं उसके ॥ ४ ॥

सुहृत्त्वं निहत्यानुजं तस्य लोके
स्वकं ख्यापयिष्याम्यहं दुष्टबुद्धिम् ।
निजभ्रातृराज्यं स्वकीयं वितन्व-
न्नसौ स्वार्थकामो वधार्हो मतो मे ।।5।।

विचिन्त्यैवमेषोऽरुणत्क्रूरकर्मा
सुगुप्तां सुवीरैः पुरीं नाम लङ्काम् ।
दशास्यानुजः शासकोऽस्या विपन्न-
स्तदानीन्तनो घोरचिन्तां प्रपन्नः ।।6।।

दशग्रीवपूर्वं तदा राज्यकाले
नवं नाम तस्यांशपश्चाद् बभूव[1] ।
नृपाः स्वाभिषेकस्य काले नवीना-
मभिख्यां दधुः सैव रीतिस्तदाऽभूत् ।।7।।

न शक्तिश्च नो तस्य सामर्थ्यमास्तां
यथा रावणस्येति तस्यान्तरङ्गे ।
महान् व्याकुलीभाव आविर्बभूव
विचारप्रवाहस्तथा सन्ततश्च ।।8।।

क्रियेताधुना किं मयाऽत्रेति चिन्ता-
परोऽसौ क्षणान् यापयामास नैकान् ।
अकस्मात्स्मृतिस्तस्य चित्तेऽतिविग्ने
जजागार वाक्यस्य रामोदितस्य ।।9।।

विजित्याभवत्संनिवृत्सुः स लङ्कां
यदा राघवेन्द्रस्तदा सोऽभ्युवाच ।

1. दशग्रीवांश इति ।

उस दुष्ट विभीषण का वध करके लोक मध्य
फैलाऊंगा मैं अपनी कीर्ति इस समय जहाँ।
अपने भाई का राज्य हड़पने वाला वह
है परमस्वार्थी वध का पात्र बने यहाँ ॥ ५ ॥

सोचकर यही महीपाल क्रूर कर्मा अपने
विक्रमी वीर लेकर लंका को घेर लिया।
शासक रावण का अनुज पड़ गया विपदा में
इस समय घोर चिन्ता ने उसको ग्रस्त किया ॥ ६ ॥

राज्यारोहण के समय नाम उसका नवीन
यह दशग्रीवांश नाम से सहज प्रसिद्ध हुआ।
अभिषेक समय राजा का होवे नया नाम
थी रीति यही, इसलिए, यही था नाम हुआ ॥ ७ ॥

उसमें रावण के सदृश शक्ति तो रही नहीं
उस जैसी ही सामर्थ्य न उसमें रही कहीं।
इसलिए, बढ़ गयी थी उसकी आकुलता भी
उसके चिन्तन का दिखता कोई छोर नहीं ॥ ८ ॥

'इस समय करूँ क्या ऐसी' व्याप गयी चिन्ता
सोचते-सोचते कुछ क्षण उसने बिता दिये।
उद्विग्न चित्त में उसके जाग उठी स्मृति
राम के वाक्य सहसा उसको थे याद हुए ॥ ९ ॥

लंका पर विजय प्राप्त करने के बाद स्वयं
भगवान राम ने उससे था इस भाँति कहा।

दशास्यानुजं तस्य सामर्थ्यमूनं
विभाव्यापदो रक्षितुं तं सहायम् ।। 10 ।।

सुहृद्वर्य यद्यापतेरापदस्त्वं
वशे तत्प्रवृत्तिं त्वया सूचनीयः ।
अहं तेन तादृग्व्यवस्थां करिष्ये
यथा स्याद्विमोक्षस्तवापद्गतस्य ।। 11 ।

अहःसप्तके सप्तके ऽद्य प्रभृत्य-
तितीव्रं प्रहेतास्म्यहं बाणमेकम् ।
यदि त्वं भवेरापदा ग्रस्त आशु
तदा लेखमेनेन सम्प्रेषयस्व ।। 12 ।।

गिरो रामभद्रोदितायाः पुराऽसौ
स्मरन् भ्रातृवर्यो दशास्यस्य भीतः ।
शरे लेखमेकं निबध्यासृजत्तं
स शीघ्रं रघूणां पतिं चाससाद ।। 13 ।।

विपद्वारिराशौ निमग्नं विदित्वा
सहायं पुराणं स्वकीयं सुदुःख्यन् ।
हनूमत्समाख्यं निजानन्यभक्तं
स भक्तानुरक्तः प्रभुः सन्दिदेश ।। 14 ।।

हनूमन् ! स पूर्वः सहायः प्रियो नो
निमग्नोऽस्ति घोरापदायामकस्मात् ।
दशास्यस्य मित्रेण तद्राजधानी
निरुद्धा महीपालदेवासुरेण ।। 15 ।।

जानकर विभीषण की सामर्थ्य न्यून उस क्षण
विपदा में रक्षा हेतु उन्होंने यही कहा ॥ १० ॥

हे मित्र ! यदि कभी तुम पर विपदा आये तो
तत्काल सूचना उसकी देना मुझे सखे !
जिससे कर दूंगा वही व्यवस्था तत्क्षण मैं
हो जाये विपदा से विमुक्ति जिस भाँति सखे ॥ ११ ॥

आज से तथा आगे भी प्रति सप्ताह एक
अति तीव्र वाण मैं सदा चलाता रहूँ यहाँ ।
यदि पड़े आपदा तुम पर तो तत्काल मित्र !
वाण सहित तुम पत्र भेजना शीघ्र वहाँ ॥ १२ ॥

जो बात कही थी राघव ने उससे पहले
भयभीत दशानन भ्राता ने था याद किया ।
वाण में बाँध कर पत्र एक तत्क्षण उसने
श्री रामभद्र के पास उसे था भेज दिया ॥ १३ ॥

उसको विपत्ति सागर में डूबा हुआ समझ
अपनी पहली सहायता, दुःख भी याद किया ।
राघव ने अपने भक्त हनूमत् को बुलवाया
फिर प्रभु ने उसको ऐसा था आदेश दिया ॥ १४ ॥

हे हनुमत् ! मेरा मित्र सहायक पहले का
इस समय घोर विपदा में है पड़ा हुआ ।
दशमुख के मित्र महिपाल देव ने तो
है लंका को सभी ओर से घेर लिया ॥ १५ ॥

ततो याहि लङ्कां विहायान्यचिन्तां
सहायं स्वकं मोचयस्वापदश्च ।
विपन्नस्य तावत्सहायस्य साह्य-
मवश्यं विधेयं सता मानवेन ।।16।।

इमं रामभद्रस्य सन्देशमाप्य
हनूमान् नवं फ्यानुजं नाम बिभ्रत् ।
नृपालो नंवाभिख्यपुर्या इदानीं
पुरीं रावणभ्रातुराशु प्रतस्थे ।।17।।

अनल्पेन कालेन चैनामवाप्य
प्रवीरो महीपालदेवासुरं सः ।
नियुद्धाय सज्जो भवेत्याह्वतैनं
समाचष्ट तावत् तवान्तोऽस्मि चेति ।।18।।

समाकर्ण्य तच्छ्रोत्रशूलं वचोऽस्य
नदन् सिंहनादं प्रकोपारुणाक्षः ।
तमभ्यद्रवद्वायुवेगेन वायोः
सुतं सङ्गतोऽभूच्च तेन क्षणेन ।।19।।

नियुद्धाय सम्प्रार्थिता वीरवर्याः
स्वमानैकसंरक्षणासक्तचित्ताः ।
निजां शक्तिमेवाकलय्य स्वशस्त्रं
झटित्येव शत्रोः पुरस्ताद् भवन्ति ।।20।।

समालोक्य वीरं कपिं सम्मुखे स
तृणायैव तं मन्यमानो बभाषे ।

इसलिए, छोड़कर अन्य कार्यों की चिन्ता
लंका जाओ और दूर करो मित्र की विपदा।
सज्जन अवश्य करते सहायता हैं उनकी
जिनके ऊपर आ पड़ती है सहसा विपदा ॥ १६ ॥

पाकर सन्देश राम का हनुमत् महावीर
जो 'फ्यानुज' कहलाते थे नाम प्रसिद्ध वहाँ।
'नव' नामक पुरी इस समय जिसके राजा वह
रावण के भ्राता की रक्षा हित चले वहाँ ॥ १७ ॥

वह महावीर भी अल्पकाल में जा पहुँचे
ललकार दिया उस महीपालदेव को वहाँ।
'हो जाओ अब तैयार द्वन्द्व के हेतु तुरत
आ गया काल बनाकर मैं तेरे पास यहाँ' ॥ १८ ॥

हनुमत् की शूल सदृश वाणी को सुनते ही
क्रोध से लाल नेत्रों से करता सिंहनाद।
वह वायुवेग से दौड़ पड़ा हनुमान् निकट
उस समय छिड़ गया दोनों में द्वन्द्व का विवाद ॥ १९ ॥

द्वन्द्व हेतु ललकार रहे वे महावीर
निज स्वाभिमान की रक्षा में संलग्न वहाँ।
निज शक्ति तेज के साथ शस्त्र को लिए हाथ
तत्काल आ गये वैरी के सामने वहाँ ॥ २० ॥

उस महावीर कपि को सम्मुख ही देख-देख
मानते हुए तृण-तुल्य उसे था बोला वह।

अपेह्याशिवतो नैव वाञ्छामि युद्धं
त्वया दर्शितं हन्त ! कापेयमत्र ।। 21 ।।

अहं चक्रवालाधिपो भूमिपालो
दिशां चक्रवाले प्रसिद्धिं गतश्च ।
त्वया वानरेणास्तु मे चेन्नियुद्धं
परीहासपात्रत्वमेष्यामि सत्यम् ।। 22 ।।

नियुद्धं समेनैव तावत् समस्य
प्रशस्यं भवेन्नेतरेण प्रमादिन् ।
नृपस्यासुरस्यैकतश्चापरत्र
नियुद्धं कपेर्ब्रूहि किं शोभनं स्यात् ? ।। 23 ।।

दयाया वशात्त्वां विमुञ्चामि शाखा-
मृग त्वं पलायस्व रक्षापि च स्वम् ।
मदीयेन हस्तेन निष्पीडिताङ्गो
दशां भाग्यदिष्टां प्रयातासि नो चेत् ।। 24 ।।

समाकर्ण्य तस्यासुरस्योग्ररूपां
गिरं स प्रवीरोऽशनिध्वानवाचा ।
कपिः प्राह तं नैव जात्याऽस्ति कश्चिद्
बली वाऽबली वेति बाढं गृहाण ।। 25 ।।

कपित्वान्न मे वीर्यहानिर्भवेद्वा
ऽसुरत्वादथो तेऽस्तु भो ! वीर्यवृद्धिः ।
परीक्षा नियुद्धे भवेदावयोर्द्राक्
न कस्यापि वीर्यं परीक्ष्यं गिरैव ।। 26 ।।

'तुम हटो यहां से तुमसे युद्ध न करूँ क्योंकि
तुमने दिखलाया कपि स्वभाव भी अपना यह ॥ २१ ॥

मैं चक्रवाल का अधिनायक हूँ भूमिपाल
मैं हूँ विख्यात दशों दिशि में है यही सत्य।
तुम जैसे वानर से करके मैं द्वन्द्व-युद्ध
बन जाऊंगा परिहास-पात्र है यही सत्य ॥ २२ ॥

हो सकता है सामान के संग ही द्वन्द्व-युद्ध
है नहीं किसी असमान संग यह कभी उचित।
साधारण वानर संग युद्ध दानवपति का
क्या शोभा देगा सभी भाँति है यह अनुचित ॥

हे शाखामृग ! मैं मुक्त कर रहा करुणावश
इसलिए, भाग जाओ निज रक्षा करो स्वयम्।
अन्यता हाथ से मेरे निष्पीडित होकर
जाओगे अंगहीन हो दुर्गति मध्य स्वयम् ॥ २४ ॥

उस दानव की क्रोध भरी वाणी सुनकर
वह महावीर वज्रवत् वचन कह उठा वहीं।
कपि बोला—कोई नहीं हुआ जन्म से बली सहज
अथवा निर्बल होता है कोई कभी नहीं ॥ २५ ॥

कपि होने से मेरी बल़वत्ता घटी नहीं
राक्षस होने से तुम न सहज़ ही वीर्यवान्।
पहचान द्वन्द्व में हो जायेगी दोनों की
वाणी से ही बन सके न कोई वीर्यवान् ॥ २६ ॥

इमां वाचमाचम्य तां वानरस्य
निजस्यावशः संप्रजह्रे तमाशु ।
कपिश्चापि तं निष्पिपेष प्रहारै-
र्नियुद्धं प्रवृत्तं तदाऽपूर्वमासीत् ।। 27 ।।

उरःपेषमेतौ नियुद्धे प्रवृत्तौ
तलाभ्यां भुजाभ्यां कराभ्यां च वीरौ ।
मिथः सम्प्रहारैः क्षताङ्गौ प्रवर्ष-
ज्जले गैरिकाद्रेरभिख्यां दधाते ।। 28 ।।

स्वकार्यत्वरावांस्तदा वायुपुत्रः
समुत्थाप्य तं दानवं वायुवेगात् ।
समुद्भ्रामयामास खे चापि चक्रे
द्विधा तं मुधावीर्यमत्यन्तधैर्यः ।। 29 ।।

क्षणेनैव भूयः स युक्तोऽजनिष्ट
कपेस्तत् परं विस्मयं सन्ततान ।
वधोऽस्यासुरस्यास्तु युक्त्या कयेति
स चिन्तापरोऽभून्न लेभे च युक्तिम् ।। 30 ।।

(उपजातिवृत्तम्)

विभीषणः प्राह कपिं ततस्तं
यावन्न वक्षः प्रविदीर्यतेऽस्य ।
तावन्न रक्षोऽधम एष शक्यः
केनापि हन्तुं जगतीतलेऽत्र ।। 31 ।।

वानर की ऐसी बातें सुनकर महीपाल
आपे से बाहर होकर था आक्रमण किया।
कपि ने भी उस पर किया प्रहार, धकेल दिया
उस समय अपूर्व द्वन्द्व भी था प्रारंभ हुआ ॥ २७ ॥

घूंसों से चाती पर प्रहार प्रारंभ हुए
हाथ से, भुजाओं से दोनों में द्वन्द्व हुआ।
जो हुए प्रहार परस्पर उससे क्षत-विक्षत
मेरू गिरि सदृश रक्त की वर्षा हुई वहां ॥ २८ ॥

उस समय वायुसुत ने तत्परता दिखलाई
वायु के वेग से उस दानव को उठा लिया।
आकाश मध्य था उसे घुमाया कपि ने तब
कर शक्तिहीन उसको सहसा दो खण्ड किया ॥ २९ ॥

क्षणभर में ही वे दोनों खण्ड जुड़े ऐसे
यह देख दृश्य कपि को अतिशय आश्चर्य हुआ।
है कौन युक्ति जिससे इसका हो सकता वध
सूझा न उपाय तभी कपि भी था चिन्तामग्न हुआ ॥ ३० ॥

उस समय विभीषण ने कपि से यह बात कही
इसका विदीर्ण होता है वक्ष नहीं जब तक।
पृथ्वी पर कोई मार नहीं सकता सहसा
इस अधम राक्षस महीपाल को तब तक ॥ ३१ ॥

चिन्तां विहायात्र विदारय त्वं
वक्षो विचित्रस्य कुराक्षसस्य ।
श्रुत्वाऽदसीयं वचनं हनूमान्
'उरोविदारं प्रतिचस्करे तम्' ।। 32 ।।

विदीर्णमात्रे तदुरस्यपासुः
पपात भूमौ दशकण्ठमित्रम् ।
साध्ये च सिद्धिं समवाप्य वीरः
स्वधाम धीरो हनुमाञ्जगाम ।। 33 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

एवं समुद्धृतः पूर्वं रामवाक्याद् विभीषणः ।
सङ्कटाद् भीषणात्सद्य उत्थिताच्च हनूमता ।। 34 ।।

इसलिए त्याग कर चिन्ता इस दानवपति के
वक्ष का विदारण करो जो कि विचित्र यहाँ।
सुन करके वचन विभीषण के हनुमत् ने भी
दानव का वक्ष-विदारण ही कर दिया वहाँ ॥ ३२ ॥

वक्ष का विदारण होते ही मृत दानवपति
दशकण्ठसखा धरती पर था गिर पड़ा वहाँ।
जो कार्य सिद्ध करना था उसको पूरा कर
बलवान् धीर हनुमान् धाम निज चला गया ॥ ३३ ॥

उद्धार विभीषण का ऐसे
राम के कथन से हुआ वहाँ।
हनुमत् के द्वारा ही भीषण
संकट से वह बच गया वहाँ ॥ ३४ ॥

एकोनविंशः सर्गः

(लङ्कोपद्रवोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

दशानने मृत्युवशं प्रयाते
विभीषणे शासति चापि लङ्काम् ।
दशास्यपूर्वाग्रमहिष्यनन्या
मन्दोदरी नाम तदा बभूव ।।1।।

स्वभ्रातृपत्नीमधुना नृपालो
विभीषणस्तामकरोत् स्वपत्नीम् ।
तेजो दशास्याहितमादधाना
कालेन साऽसोष्ट तनूजमेकम् ।।2।।

क्रमेण वैणासुरवंशनामा
पुत्रोऽसकौ यौवनमाससाद ।
तस्याभवत्सेवक एक एनं
यः पर्यचारीद् वरणीसुराख्यः ।।3।।

असाविमं नित्यमबोधयिष्ट
यद्यत्पिताऽस्याऽन्वभवद्दशास्यः ।
यद्वा कृतं तत्र विभीषणेन
पक्षं रिपूणां समुपाश्रितेन ।।4।।

एकोनविश सर्ग

(लंकोपद्रवोपाख्यान)

रावण के मरने के पश्चात् विभीषण ने
लंका का शासन-भार संभाल लिया था जब।
दशमुख की पटरानी महिषी लावण्यमयी
मन्दोदरी जिसका नाम, हुई विख्याता तब ॥ १ ॥

अपने भाई की पत्नी को उस नरपति ने
अपनी ही पत्नी उसे सहज ही बना लिया।
गर्भ में किया था धारण दशकण्ठ-तेज
समयानुसार उसने सुत एक उत्पन्न किया ॥ २ ॥

उस बालक का वैणासुर वंश प्रसिद्ध नाम
धीरे-धीरे वह यौवन पद को प्राप्त हुआ।
वरणीसुर नामक उसका सेवक रहा एक
करता था उसकी परिचर्या दिनरात वहाँ ॥ ३ ॥

वरणीसुर उसको नित्य यही बतलाता था
जो उसके पिता दशानन ने थी अनुभत किया।
जो हुआ विभीषण ही कारण था, रिपुदल में
जाकर उसने सहसा जब शरण गही ॥ ४ ॥

अमुष्य तच्छूलमिवातुदत्तन्
न्यक्षेण वृत्तं विदितं पुराणम् ।
अन्याय्यमासीज्जनके कृतं यत्
तस्याभवत्तत्प्रतिशोधने धीः ।।5।।

जातोऽपि वंशे बत रक्षसां मे
पितृव्यपाशो रिपुपक्षपाती ।
अघातयत्तं प्रबलप्रतापं
स्वानां विरोधः किमु नैव कुर्यात् ।।6।।

यद्यस्मि पुत्रो दशकन्धरस्या-
न्यायो मयासौ परिमार्जनीयः ।
स एव पुत्रो महितः पृथिव्यां
यश्शास्ति ताताहितकारिलोकम् ।।7।।

इत्थं विचिन्त्य प्रययौ कुमारः
स्वतातमित्रं मलिवन्नरेशम् ।
श्रीचक्रवर्तीत्यभिधानभाजं
तं प्राह चित्ते यदभून्निजे च ।।8।।

तं रावणस्यात्मजमेष राजा
मित्रस्य पुत्रं निजपुत्रमेव ।
अमन्यत प्रत्यवदच्च पुत्र !
यथाऽभिलाषस्तव तत्करोमि ।।9।।

आसीद्दशास्यो मम बन्धुरूपो
दिशां विजेता प्रबलप्रतापः ।

शूल के सदृश दुःखदायी वह वृत्तान्त, पूर्व
जो घटित हुआ, जानकर उसे अति क्षोभ हुआ।
यह किया गया अन्याय पिता के साथ, अतः
प्रतिशोध करूंगा, उसने मन में ठान लिया ॥ ५ ॥

यद्यपि मेरे चाचा का जन्म दनुज कुल में
था हुआ, किन्तु शत्रु का उन्होंने पक्ष लिया।
करवाया वध उन प्रबल प्रतापी रावण का
कुल का विरोध इस भाँति किसी ने नहीं किया ॥ ६ ॥

यदि मैं दशकन्धर का सुपुत्र हूं तो मुझको
अन्याय हुआ जो उसे मिटाना है निश्चित।
है वही पुत्र इस पृथ्वी पर तो महामहिम
दण्डित करता, कर गया पिता का जो कि अहित ॥ ७ ॥

करके विचार इस भाँति कुमार गया तत्क्षण
मलिवन्नरेश ढिंग जो पिता का मित्र रहा।
नाम भी चक्रवर्ती जिसका, उससे उसने
जो उसके मन में था सब कुछ स्पष्ट कहा ॥ ८ ॥

मल्विन्नरेश ने रावण के पुत्र को स्वयं
समझा अपने पुत्र के सदृश उस समय वहीं।
उससे राजा ने कहा—'पुत्र ! निःसंशय ही
जो चाह रहे हो, वही करूँगा निश्चित ही ॥ ९ ॥

वह दशकन्धर तो था मेरा ही बन्धुरूप
जो दिग्दिगन्त में विजयी प्रबल प्रतापयुक्त।

रामेण तावद्वनचारिणाऽभूद्
धतो न रामस्य विशिष्टताऽत्र ।। 10 ।।

स्वज्ञातिरेवात्र विभीषणः स्व-
ज्ञातेर्विरोधी समभून्निमित्तम् ।
छिद्राणि येनापरपक्षपातात्
स्वानां परेभ्यः प्रकटीकृतानि ।। 11 ।।

यद्यस्ति दण्ड्यः क्वचनाऽत्र लोके
स एव दण्ड्यः स्वजनापकारी ।
तदेहि लङ्कामभिषेणयाव
मृत्योः पदं चाशिवममापयाव ।। 12 ।।

स एवमुक्त्वा मलिवन्नरेशो
सहैव वैणासुरवंशनाम्ना ।
दशास्यपुत्रेण वृतश्चमूभिः
लङ्कापुरीं सम्प्रति सम्प्रतस्थे ।। 13 ।।

आसीत्तदा बेञ्जकयीति नाम्न्यां
हनूमतो राक्षसकन्यकायाम् ।
पुत्रोऽतिवीरोऽसुरफत्समाख्यो
विभीषणं यः समया न्यवात्सीत् ।। 14 ।।

लङ्कानिरोधे मलिवन्नृपेण
ततोऽपयातः स यथा कथञ्चित् ।
विचिन्तितः सूचयितुं महात्मा
दुर्वृत्तमेतज्जनकं स्वमैच्छत् ।। 15 ।।

उस वनवासी राम के हाथ से वधा गया
इसमें न राम की कहीं विशेषता दिखी क्वचित् ॥ १० ॥

यद्यपि स्वजाति का रहा विभीषण, फिर भी तो
जाति-विरोध किया कारण बन गया यहाँ।
वह मिला शत्रु से पक्षपात के कारण ही
लंका का सारा भेद उसी ने बता दिया ॥ ११ ॥

यदि यहाँ लोक में है कोई दण्ड के योग्य
तो निज जन का अपकारी वह दण्ड का पात्र।
इसलिए चलो लंका तुरन्त उस द्रोही को
यमपुर पहुँचा दें, अपना है यह कार्यमात्र ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर मलिवन्नरेश ने उसी समय
वैणासुरवंश नाम दानव के साथ-साथ।
प्रस्थान किया लंका नगरी की ओर तुरत
सेनाएं लेकर रावण-सुत के साथ-साथ ॥ १३ ॥

उस समय वहाँ था विद्यमान हनुमन्त तनय
जो वेञ्ञकयी नामक राक्षस कन्या से था।
वह पुत्र असुरफत् नामक वीर विभीषण के
साथ वहीं लंका में निशिदिन रहता था ॥ १४ ॥

मल्विन्नरेश ने जब लंका को घेर लिया
उस समय वीर वह किसी भाँति था भाग गया।
चिन्तित हो उठा, पिता को सूचित करने को
इस घटना को बतलाने का सुविचार किया ॥ १५ ॥

दुर्दान्तशत्रोः प्रतिरोधनेऽस्य
सहायताऽपेक्ष्यत इत्यधीरः ।
तस्य प्रवृत्तौ दनुजप्रवीरः
प्रयत्नमातिष्ठत सद्य एव ।। 16 ।।

कुत्रापि शैले जनकस्तदीय-
स्तपस्यतीत्येष विवेद विद्वान् ।
शैलात्स शैलं समभूत्प्रवृत्तो
गन्तुं समन्वेषणकाम्यया तम् ।। 17 ।।

एकत्र शैले स ददर्श कञ्चि-
ज्जनं प्रवीरस्तप आचरन्तम् ।
नायं कपिर्नैष भवेद्धनूमा-
नित्यस्य शङ्का मनसि प्रजाता ।। 18 ।।

वने भ्रमन्नेकदिने हनूमान्
रसालवृक्षे सरसै रसालैः ।
कस्मिंश्चिदाकृष्यत तानि भोक्तुं
प्रवृत्तिमांश्चैव बभूव सद्यः ।। 19 ।।

पृथक्कृतानां निजवृन्तजाता-
त्क्षीरेण सम्प्रस्रवता मुखेभ्यः ।
संलिप्तसर्वावयवो बभूव
कपिस्तुषारस्नुतिधौतवर्णः ।। 20 ।।

द्वाभ्यां कराभ्यां स इदं प्रमार्ष्टुं
कपिस्वभावात्समभूत्प्रवृत्तः ।

दुर्दान्त शत्रु का प्रतिरोधन दिख रहा कठिन
इसलिए, सहायता की अपेक्षा अधिक यहाँ।
सोचकर यही वह दनुज वीर दिखता अधीर
तत्काल प्रयत्नों में प्रवृत्त हो उठा वहाँ ॥ १६ ॥

सहसा उसने देखा था एक शैल-ऊपर
था मग्न तपस्या में कोई सज्जन प्रवीर।
पर, यह तो कपि है नहीं, नहीं हैं हनूमान
ऐसी शंका में पड़ा वहाँ वह दनुज वीर ॥ १७ ॥

वन-मध्य किसी दिन घूम रहे थे हनूमान
थे जहाँ आम के वृक्ष सरस फल दिखे वहाँ।
उनको खाने के लिए हुए वे आकर्षित
उनके मन में ऐसी इच्छा जग गई वहाँ ॥ १८ ॥

वन-मध्य किसी दिन घूम रहे थे हनूमान
थे जहाँ आम के वृक्ष सरस फल दिखे वहाँ।
उनको खाने के लिए हुए वे आकर्षित
उनके मन में ऐसी इच्छा जग गयी वहाँ ॥ १९ ॥

जैसे ही तोड़ा आम, आम की डाली से
उनके मुख से उसका रस बहने लगा सहज।
उनके सारे अंगों में रस था सना हुआ
देह पर तुषार पहले से, कपि था धौत वर्ण ॥ २० ॥

पोछने लगे दोनों हाथों से हनूमान्
कपि के स्वभाव से वे उसमें संलग्न हुए।

एवं च कुर्वन् परिहासपात्रं
भार्याजनस्याभवदुन्मुखस्य ।।21।।

स व्रीडितस्तेन बभूव भूयः
कृतावमानो वनिताजनेन ।
सम्मार्ष्टुमेतामवमाननां च
तप्तुं तपो बुद्धिमधात्स्वकीयाम् ।।22।।

दिष्फैल्समाख्यं समुपेतवांश्च
ऋषिं तदर्थं स कपिप्रवीरः ।
कपिः कथं तप्तुमलं तपः स्या-
दित्यास्त चिन्ता महती ऋषेस्तु ।।23।।

विचिन्तयन्नेष ऋषिस्तदानीं
कपेर्मनुष्यीकरणादृतेऽन्यम् ।
नैवाभ्युपायं कमपि प्रजानन्
मनुष्यरूपं प्रददावमुष्मै ।।24।।

मनुष्यरूपेण स शैलशृङ्गे
समाधिमास्थाय तपश्चचार ।
तदैव पुत्रोऽसुरफत्समाख्यो
ऽन्विष्यन्प्रयत्नेन तमभ्युपेतः ।।25।।

पप्रच्छ चैनं ननु भद्र ! दृष्ट-
स्त्वया चरन् क्वापि तपो हनूमान् ? ।
सौम्याहमेवास्मि स इत्युवाच
किमर्थमन्विष्यसि तं त्वमत्र ? ।।26।।

ऐसा करने से बने सहज परिहास पात्र
अपनी भार्या द्वारा, मुख जिनके उठे हुए ॥ २१ ॥

यह देख हनूमत् हुए परम लज्जित ऐसे
उन वनिता जनके द्वारा थे अपमानित वे ।
फिर अवमानना मिटाने के ही हेतु सहज
तप करने का कर बैठे निश्चय हनुमत् वे ॥ २२ ॥

दिष्फैल नाम के ऋषि से मिलने के हितार्थ
वे हनूमान् जा पहुँचे उनके पास वहाँ ।
यह वानर है, कैसे होगा तपयोग्य भला
ऐसी चिन्ता ऋषि के मन में व्यापती वहाँ ॥ २३ ॥

इस भाँति सोचते हुए तभी ऋषि ने उनको
कपि से सहसा कर दिया सहज ही नरस्वरूप ।
इसके अतिरिक्त न कोई अन्य उपाय दिया
इसलिए दिया हनुमत् को सब विधि पुरुष रूप ॥ २४ ॥

उस शैल श्रृंग पर पाकर वैसा मनुजरूप
करके समाधि कपि ने तप भी प्रारंभ किया ।
फिर, उसी समय वह पुत्र असुरफत् नामक भी
खोजता हुआ यत्न से पहुँच ही गया वहाँ ॥ २५ ॥

पूछा उससे—'हे भद्र ! बताओ तुम्हें कहीं
तप करते वे हनुमान् दिखाई पड़े यहाँ ?
'मैं ही हूँ हनुमान्' इस तरह बोले वे
किस कार्य हेतु तुम ढूँढ रहे हो उन्हें यहाँ ॥ २६ ॥

श्रुत्वा वचस्तस्य रुषा परीत-
स्तमुग्रवाचाऽसुरफद् बभाषे ।
एवं मृषा त्वं वचनं ब्रुवाणो
न लज्जसे किं न च वा बिभेषि ? ।।27।।

पिता हनूमान् मम वानरोऽस्ति
त्वं तापसम्मन्य ! तु मानुषोऽसि ।
अहं हनूमानिति यद् ब्रवीषि
तन्मानुषत्वेन कथं घटेत ? ।।28।।

किञ्चापि रे तापसचेल ! वेत्सि
लोकोत्तरां मे जनकस्य शक्तिम् ? ।
नक्षत्रताराशशिनो निगीर्णा
मत्वा पुरा येन फलानि तावत् ।।29।।

श्रुत्वा स्तुतिं स्वस्य सुतात्प्रतीतः
पुनर्हनूमानिममाह वाचम् ।
नक्षत्रताराशशिनो मयैव
पूर्वं निगीर्णा इति सत्यमेतत् ।।30।।

तप्तुं तपो मानुषरूपधारी
जातोऽहमद्येति गृहाण पुत्र ।
नो प्रत्ययश्चेद्वचने मदीये
तत्तिष्ठ ते प्रत्ययमादधामि ।।31।।

उक्त्वा स एतन्निजमूलरूपं
प्रपेदिवांश्चापि निगीर्णवांश्च ।

सुनकर उनके ये वचन क्रोध से भरी हुई
अत्यन्त उग्र वाणी असुरफत् कहा वहीं ।
'इस भाँति बोलते हुए मृषा वाणी तुम को
लज्जा क्यों आई नहीं या कि भय लगा नहीं ॥ २७ ॥

हनुमान् पिता मेरे वानर हैं सर्वविदित
हे पूज्य तपस्विन् ! तुम हो मानुष रूप सहज ।
मैं हूँ हनुमान्, इस तरह जो तुम कहते हो
वह कैसे इस मानव स्वरूप में घटे सहज ॥ २८ ॥

अथवा रे तापस ! क्या तुम हो जानते इसे
है अद्वितीय वह शक्ति पिता की कही गई ।
नक्षत्र सहित तारा शशि को वे निगल गये
जानकर उन्हें फल के स्वरूप में सहज कभी ॥ २९ ॥

अपने सुपुत्र से सुनकर निज यथोवृत्त
'मैं हनूमान् हूँ फिर भी बोले वचन यही ।
नक्षत्र सहित शशितारा मैं ही निगल गया
अपने बचपन में किसी समय है सत्य यही ॥ ३० ॥

तप के हितार्थ ही हुआ यहाँ मैं मनुज रूप
इस समय यही है सत्य, मान लो इसे पुत्र ।
यदि मेरी बातों पर तुमको विश्वास नहीं
तो रुको, यहीं विश्वास दिलाऊँ तुम्हें पुत्र' ॥ ३१ ॥

यह कहकर धारण किया सहज निज मूल रूप
था किया प्रयास निकलने का उस समय वहाँ ।

नक्षत्रताराशशिनः समेतान्
पुत्रेण साश्चर्यमवेक्ष्यमाणः ।। 32 ।।

पुत्रस्तदीयः प्रणिपातपूर्वं
जग्राह पादौ जनकस्य भीतः
क्षमापयामास ततश्च स स्व- ।
मागस्कृतं सम्प्रति मन्यमानः ।। 33 ।।

उत्थाप्यं दोर्भ्यां हनुमांस्तनूजं
गाढं परिष्वज्य च साश्रुनेत्रः ।
पुत्रस्य लाभात्परमप्रतीतो
ऽकस्मादमुं वाचमिमामुवाच ।। 34 ।।

दृष्टो मयाऽऽसीर्न पुरा सुत ! त्वं
नाहं त्वया चाप्यभवं प्रदृष्टः ।
अदृष्टयोर्नौ कथमेव तावद्
भवेदभिज्ञा सुततातयोर्नु ? ।। 35 ।।

अतर्कितं रत्नमिवास्ति पुत्र-
रत्नं मया लब्धमिहाद्रिशृङ्गे ।
सद्यःफलं मे तप इत्यनेन
हर्षप्रकर्षो हृदि मे न माति ।। 36 ।।

वचोऽतिहृष्टोऽसुरफद् बभाषे
श्रुत्वा वचस्तज्जनकस्य हन्त ! ।
तृप्तं चिरायाद्य मदीयनेत्र-
युगं समालोकयतस्स्वताताम् ।। 37 ।।

नक्षत्र सहित शशि तारागण को निगल गये
यह देख आश्चर्य चकित हो उठा पुत्र वहाँ ॥ ३२ ॥

हनुमत्-सुत को विश्वास हो गया, चरणों पर
तात के गिर पड़ा, वह अतिशय भयभीत हुआ।
तदनन्तर उनके संमुख क्षमा-याचना की
अपराध उस समय अपना भी स्वीकार किया ॥ ३३ ॥

बाहु से उठाकर सुत को हनुमत् ने
गद्गद् होकर कण्ठ से लगाया बार-बार।
पुत्र की प्राप्ति से अतिशय हर्षित हुए पुनः
सहसा, वे बोले उससे वाणी इस प्रकार ॥ ३४ ॥

तुम नहीं दिखायी पड़े आज तक पुत्र ! कभी
पैदा होने पर भी मैं तुमको दिखा नहीं।
इसलिए, बिना देखे सुत ! एक दूसरे को
हो सकती है पहचान तात-सुत की कि नहीं ॥ ३५ ॥

इसमें सन्देह नहीं तुम तो हो पुत्ररत्न
वह रत्न मिल गया मुझे शैल पर सहज यहीं।
तत्काल प्राप्त कर लिया तपस्या-फल मैंने
आनन्द हृदय में समा रहा है यहाँ नहीं ॥ ३६ ॥

सुनकर वाणी वह असुरफत् भी बोला यों
उस समय तात की बातों से था आनन्दित।
'हो गया तृप्त देखकर आपको आज यहाँ
युग-युग से दर्शन की लालसा आपके हित ॥ ३७ ॥

"अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां
सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः" ।
चिराय यद्दर्शनमीप्सितं मे
स एव साक्षात् पुरतो ममास्ति ।।38।।

ममेष्टदेवोऽसि पिता मम त्वं
'मनोरथानामतटप्रपातः' ।
त्वद्दर्शनेनैव कृती तथापि
गुर्वत्र कार्यं प्रतिपादयामि ।।39।।

उक्त्वैतदेनं स उवाच वृत्तं
लङ्कापुरीपूर्वगतं समस्तम् ।
श्रुत्वाऽभवद्यत्सुतरामशान्त-
स्तान्तान्तरङ्गश्च कपिप्रवीरः ।।40।।

तपो विहायाथ सुतेन सांकं
खिद्किन्[1] पुरीमाशु स सम्प्रतस्थे
सैन्यं च सङ्गृह्य ततः स तेन
पुरीमयोध्यां सह सम्प्रतस्थे ।।41।।

ततः समेतो भरतेन चापि
शत्रुघ्ननाम्ना च रघूद्वहेन ।
लङ्कापुरीमोचनबद्धबुद्धि-
रकालहीनं प्रति तां प्रतस्थे ।।42।।

दीर्घीकृतो नीलकलेवरोऽत्र
चकार वारांनिधिसेतुकार्यम् ।

1. थाईरामायणे किष्किन्धापुर्यंतन्नाम्ना ऽभिहिता ।

यज्ञ-क्रियाएं बनी आज ज्यों कामधेनु
इस समय भूमिदेवों के आशिष हुए सत्य।
थी बहुत समय से जिसके दर्शन की इच्छा
वह आज दिख रहा साक्षात् मेरे समक्ष ॥ ३८ ॥

तुम मेरे पिता तथा हो मेरे इष्टदेव
हो गया मनोरथ भी मेरा संपूर्ण यहाँ।
यद्यपि दर्शन से ही कृतार्थ हो रहा किन्तु
जो महत्कार्य है, कहता हूँ आपसे यहाँ ॥ ३९ ॥

ऐसा कहकर उसने वह घटना बतलायी
लंका नगरी में हुआ उसे ही समझाया।
जिसको सुनकर हनुमन्त हो उठे थे अशान्त
उन कपि प्रवीर का हृदय सहज ही भर आया ॥ ४० ॥

इसलिए, तुरन्त त्याग कर तप पुत्र के साथ
हनुमात् ने तुरत किष्किन्धा प्रस्थान किया।
करके सेना एकत्रित, फिर, पुत्र के साथ
उन्होंने तत्क्षण अयोध्या नगरी को प्रस्थान किया ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वहाँ भरत को लेकर साथ तथा
रघुकुल प्रवीर शत्रुघ्न हो लिये साथ-साथ।
लंका नगरी की मुक्ति हेतु मन में निश्चय
करके सारे चल पड़े शीघ्र ही साथ-साथ ॥ ४२ ॥

निज नील कलेवर को विशाल करके कपि ने
सागर पर तत्क्षण सेतु कार्य संपन्न किया।

सैन्यानि येन प्रययुः सुखेन
पारेसमुद्रं प्रयतानि तानि ।। 43 ।।

पूर्वं निविष्टानि बभूवुरेता-
न्यद्रौ विशाले समयैव लङ्काम् ।
सन्ध्यादिवार्ताऽक्रियतेत एव
सैन्याधिपैर्वानरवीरमुख्यैः ।। 44 ।।

वार्तादिके निष्फलतां प्रयाते
युद्धं समारभ्यत नाशकारि ।
सैन्यानि यत्रोभयपक्षगानि
प्रदर्शयामासुरपारशौर्यम् ।। 45 ।।

भयङ्करायोधनसङ्गतानि
स्वनायकादेशवशंवदानि ।
खड्गैः शिलाभिस्तरुभिश्च तानि
शरैश्च हस्तैश्च मिथः प्रजह्रुः ।। 46 ।।

हतोऽत्र वैणासुरवंशनामा
मुक्तोऽत्र युद्धे च विभीषणोऽभूत् ।
सेना विजेत्री च ततः प्रतस्थे
प्रति प्रदेशं मलिवन्नृपस्य ।। 47 ।।

तत्रापि युद्धं ववृतेऽतिघोरं
जयं न लेभे मलिवन्नृपश्च ।
दशाननस्येव दशा बभूव
तस्यापि तन्मित्रवरस्य तावत् ।। 48 ।।

जिस पर सुनियंत्रित सेना ने सुख से सहसा
चल कर उस सागर को क्षण भर में पार किया ॥ ४३ ॥

सबसे पहले सेना ने किया निवास तुरत
उस पर्वत पर जो लंका के ही निकट रहा।
फिर, सेनां के नर वीर प्रमुख सेनापति के
द्वारा समझौते की वार्ता का दौर चला ॥ ४४ ॥

जब सन्धि वार्ता आपस में हो गयी विफल
तदनन्तर वह विनाशकारी संग्राम हुआ।
तब उभयपक्ष की सेनाओं के वीर सभी
निस्सीम शौर्य का परिचय देते रहे वहाँ ॥ ४५ ॥

वे लिये भयंकर अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकार
अपने नायक की आज्ञा का पालन करते।
वे खड्ग, शिला, तरु-वाण तथा निज हाथों से
उस समय परस्पर भिड़े हुए दिखते लड़ते ॥ ४६ ॥

वैणासुरवंश युद्ध में मारा गया वहाँ
इसलिए, विभीषण भी स्वतन्त्र हो गया वहाँ।
तदनन्तर मलिवन्नृप की पीछे उसी समय
विजयी सेना लग गयी, वह गया जहाँ ॥ ४७ ॥

था हुआ वहाँ भी घोर युद्ध सेनाओं में
मलिवन्नरेश, फिर भी, विजयी हो सका नहीं।
जो दशा दशानन की पहले थी हुई कभी
उसके उस परम मित्र की गति भी हुई वही ॥ ४८ ॥

एकैकशस्तस्य सुतास्त्रयोऽपि
वीराः प्रयाताः सदनं यमस्य ।
वेतालनामापि च तत्सहायो
नीलेन युद्धे निहतो बभूव ।। 49 ।।

अन्ते च वीरो भरतो जघान
स्वकष्टजातान्तमिव प्रसन्नः ।
प्रचण्डयोधं मलिवन्नरेशं
ब्रह्मास्त्रयोगेन विदां वरेण्यः ।। 50 ।।

(वसन्ततिलकावृत्तम्)

स्थानेऽभ्यषिञ्चदथ तस्य हनूमतोऽयं
मच्छानुसञ्ज्ञकमपत्यवरं प्रतापी ।
रामानुजो भरत, आह च तं प्रवीरं
धर्मेण शाधि नयविन्मलिवत्प्रदेशम् ।। 51 ।।

पुत्री प्रिया च नृपतेरथ चक्रवर्ती-
त्याख्यस्य रत्नमिव सम्प्रति रत्नमाली ।
पत्नी तवाग्रमहिषी भवतु प्रबुद्धा
सिंहासनं सह तया परिभूषयस्व ।। 52 ।।

उसके तीनों ही पुत्र एक के बाद एक
रण में मरकर वे यमपुर सहज सिधार गये।
वेताल नाम का उसका एक सहायक भी
नील के हाथ वह भी तो वध दिये गये ॥ ४९ ॥

अन्त में मुदित उन भरत वीर ने उस रण में
वध दिया उसे जिससे कष्टों का अन्त हुआ।
ब्रह्मास्त्रयोग के द्वारा मलिवन्नृप का भी
उस भीषण रण में भरत वीर ने अन्त किया ॥ ५० ॥

फिर, भरतवीर रामानुज ने हनुमन्त पुत्र—
मच्छानुवीर को राजा वहाँ बनाया था।
साथ ही उसे नीति का सहज उपदेश दिया
मलिवत्प्रदेश के शासनार्थ समझाया था ॥ ५१ ॥

'उस चक्वर्ति नृप की पुत्री अति प्रिया रही
जो रत्न तुल्य थी उसका नाम रत्नमाली।
वह हुई तुम्हारी पत्नी, तथा राजमहिषी
बैठो सिंहासन पर, संग में वह रत्नमाली ॥ ५२ ॥

विंशः सर्गः

(सीतानिर्वासनोपाख्यानम्)

(शिखरिणीवृत्तम्)

मृधे रक्षोराजे दशमुख उपेते यमपुरी-
मयोध्यां श्रीरामो जनमहित आसीत्प्रतिगतः ।
अभूत्तत्रामुष्याभिमततरकः सर्वजगतो-
ऽभिषेको राज्ये यो जनमनसि मोदं समतनोत् ।।1।।

वसन् प्रासादे स्वे समहृदयभ्रातृत्रययुतः
समं जानक्याऽथो मृदुहृदययाऽऽनन्दमतुलम् ।
अयं विन्दन् भिन्दन् जनमनसि मोहान्धतमसं
सुखं कालं नैजं व्यपगमयति स्म प्रमुदितः ।।2।।

अभूत्तस्मिन् काले जनकतनयाऽपि प्रमुदिता
पुरा कष्टौघं याऽसहत वचनानामविषयम् ।
विचित्रैषा लोके स्थितिरिह यया नन्दति जनः
क्षणान् कांश्चित्कांश्चिद् गहनतमकष्टं व्रजति च ।।3।।

वनेषु भ्रान्त्वाऽपि प्रथममतिकष्टेषु गहने-
ष्वयोध्यायां सम्प्रत्यतिमहितपुर्यामधिगता ।
पदं सीता राज्ञ्या इह जगति वीताखिलभया
विनिन्ये सुप्रीता निजसमयमत्यन्तसुखिता ।।4।।

विंश सर्ग

(सीता निर्वासनोपाख्यान)

रण में दानवपति रावण के मर जाने पर
श्रीराम अयोध्या में जन-जन से सम्मानित ।
था हुआ यहाँ पर उनका राजतिलक एवं
थी प्रजा इस समय देख उन्हें अति आनंदित ॥ १ ॥

वे राजभवन में सीता तथा भाइयों के
साथ ही रह रहे थे दिखते सब आनंदित ।
लोगों के मन का मोह हट गया, राम स्वयं
सुख से ही लगे बिताने समय परम प्रमुदित ॥ २ ॥

इस समय जनकतनया भी परमहर्षिता थीं
जो पहले ही सह चुकीं कष्ट भी अवर्णनीय ।
लोक में दशा यह है विचित्र, क्षण सुख मिलता
तो कभी दूसरे क्षण ही कष्ट जो असहनीय ॥ ३ ॥

वन-वन में रहीं भटकती, कष्टों को सहतीं
इस समय अयोध्या में वे रानी कहलायीं ।
उनके सारे कष्टों का अन्त हुआ अब तो
जीवन में उनके अति सुख की बेला आयी ॥ ४ ॥

अयं मोदस्त्वस्या नहि चिरमवातिष्ठत गति-
विर्धेरेषा चित्रा ऽखिल जगति नैषास्त्यविदिता ।
जनानामेतस्याः प्रबलतरवेगेन भवति
सुखं वा दुःखं वा भवति किमिवान्यज्जगति वा ।।5।।

ममान्तः कष्टानामुपगत इदानीमथ शुचां
मया तीर्णो भीमो जलनिधिरिदानीं च भयदः ।
अहो ! मे सौभाग्यं रघुकुलमणिर्मे पतिरिह
मदीये गर्भेऽथो विलसति तदीयाङ्कुर इति ।।6।।

प्रमोदाब्धौ यावत्तरति सरलैषा नृपवधूः
स्वकीये सौभाग्येऽनुभवति च गर्वौघमतुलम् ।
तदैवास्यां वात्याभ्रमिरिव भयोद्वेगजनिकृद्
अतीवोग्रो वज्रो हतविधिविलासान्निपतितः ।।7।।

अगच्छच्छ्रीरामः कतिपयदिनार्थं वनमतो
वियोगस्तेनाऽऽसीज्जनकतनयायायसहनः ।
वियोगस्योष्माणं प्रशमयितुमेषा कथमपि
तटिन्याः कस्याश्चित्तटमुपगता स्नातुमभवत् ।।8।।

अभूच्छूर्पेत्येवं प्रथमपदयुक्तं नखपदं
दधाना रक्षःस्त्री विकृतकृतरूपा शठतमा ।
सुमित्रापुत्रेण प्रकुपिततरा येन भवनं
जगामासौ भ्रातुर्दशवदनसंज्ञस्य रुदती ।।9।।

प्रतीकर्तुं तस्या अभवदवमानं दृढमति-
र्दशास्यः क्रूरास्योऽहरदथ च सीतां शठमतिः ।

उनका यह मोह न टिका बहुत दिन तक, विचित्र
विधि की गति भी संसार मध्य है सर्वविदित।
जिसके उस प्रवलवेग से लोगों के ऊपर
आता है सुख या दुःख अथवा अन्य भी क्वचित् ॥ ५ ॥

यह सोच रहीं—'मेरे दुःख का अब हुआ अन्त
मैंने भयकारी महासिन्धु को किया पार।
पति मेरे रघुकुलमणि, यह मेरा परम भाग्य
गर्भ में इस समय उनका अंकुर है अपार ॥ ६ ॥

जब तक प्रमोद सागर में तैर रहीं रानी
अनुभव करती गर्व का, रहा सौभाग्य परम।
तब तक उत्पात प्रभंजन भय-उद्वेग जनित
अति उग्र वज्र सम पड़ा दिखा दुर्भाग्य चरम ॥ ७ ॥

श्रीराम कुछ दिनों हेतु गये वन मध्य कहीं
उनका वियोग सीता न सहन कर सकीं सहज।
इसलिए, वियोग ऊष्मा के प्रशमन हितार्थ
स्नान हेतु वे गईं किसी सरिता तट पर ॥ ८ ॥

शूर्पणखा नामक रही राक्षसी किसी समय
लक्ष्मण के द्वारा विकृत रूप जो थी की गयी।
इसलिए, प्रकुपिता 'होकर भ्राता रावण के
पास ही रुदन करती शूर्पणखा तुरत गयी ॥ ९ ॥

अपमान हुआ जो उसका बदला लेना है
यह सोच दुष्ट रावण ने सीता-हरण किया।

ततो जाते युद्धे दशरथसुतेन प्रणिहतो
विनाशं प्रायासीद्विभवपरिपूर्णा ऽस्य च पुरी ।।10।।

अभूत्पुत्री तस्या असुरवनिताया अतुलिता
ऽतुलेत्याख्यां बिभ्रत्यतिविकटकार्येषु कुशला ।
परं क्रोधं स्वाम्बां प्रति कृतचरीं दुर्व्यवहृतिं
विचिन्त्यावापन्न क्षणमपि कथञ्चित्क्षणमसौ ।।11।।

प्रतीशोधस्तस्याः कथमिव मया साध्यत इति
मतिः प्रादुर्भूता मनसि कलुषेऽस्या हतधियः ।
स्वकार्ये सिद्धिः स्याद्यदि जनकपुत्रीरघुवरौ
मिथो भिद्येतामित्यवधृतमतिर्दुष्टयुवतिः ।।12।।

अपेक्षाञ्चक्रे सोचितमवसरं पापहृदया
समासीदच्चैनं दशरथसुतारण्यगमने ।
तथा सीतादेव्यास्तटिनितटसम्प्राप्तिसमये
विधाता दुष्टानामपि जगति साहाय्यकृतिभाक् ।।13।।

दधे मायारूपं जनकतनयाकिङ्करिसमं
तथारूपा तस्थे जनकतनयायाश्च सविधे ।
न चैतत्साऽज्ञासीत्सरलहृदया नैकदिवसान्
दिवारात्रं चासौ परिचरणमस्या व्यतनुत ।।14।।

अमुष्यां किङ्कर्यामपि जनकपुत्र्याः समभवत्
सखीस्नेहो नित्यं परिचरणकार्यात्समुदितः ।
मनस्यन्यद्येषां भवति खलु ते किङ्करगणा
भवन्त्येवावश्यं परिचरणकार्येऽतिनिपुणाः ।।15।।

तब रण में श्रीराम के हाथ वह वधा गया
ऐश्वर्यपूर्ण उसकी नगरी का नाश हुआ ॥ १० ॥

पुत्री थी उस सूर्पणखा की सुन्दरी एक
अतुला नामक वह सुता विकट कार्य कुशल ।
जो दुराचरण उसकी माता के साथ हुआ
उससे क्रुद्धा थी, क्षण भर भी मिल सकी न कल ॥ ११ ॥

'माँ का प्रतिशोध किस तरह सिद्ध करूँ अब मैं'
उस दुष्टा के मन में यह निश्चय व्याप्त हुआ ।
निज कार्य सिद्धि के हेतु जानकी-रघुवर में
भेद का भाव भर दूँ ऐसा कुविचार किया ॥ १२ ॥

वह समुचित अवसर की प्रतीक्षा में थी, जब
दशरथसुत श्रीराम गये वन में सहसा ।
मिल गया सुअवसर, सीता गयीं नदी तट पर
विधि बनता दुष्ट-सहायक जग में जब सहसा ॥ १३ ॥

वह सीता की सेविका तुल्य माया स्वरूप
वह उसी रूप में उनके साथ रही विधिवत् ।
सीता थीं सरल हृदय उसको न समझ पायीं
जो रात-दिवस उनकी सेवा करती विधिवत् ॥ १४ ॥

सीता का उस सेविका संग हो गया सहज
स्नेह भी सखी जैसा परिचर्या के कारण ।
वे सेवक जिनके मन में हो अन्यथा भाव
वे चतुराई से करते सेवा का व्रत धारण ॥ १५ ॥

दिने ह्येकस्मिन्सा ननु कृतककिङ्कर्यतिशठा
बभाषे देव्यासीर्दशवदनहर्म्ये त्वमुषिता ।
कथंरूपा तस्याऽऽकृतिरिति वद त्वं महदहो !
ममास्त्यत्रौत्सुक्यं प्रशमय ततस्त्वं विलिख तम् ।।16।।

(वियोगिनीवृत्तम्)

सखिभावमुपागतस्य मे
नियतं सेवनवृत्तिकस्य च ।
मम भृत्यजनस्य गीर्ध्रुवं
परिपाल्याऽस्ति मयेति भावतः ।।17।।

सरलप्रकृतिर्विदेहजा-
ऽसुरकन्याछलनामजानती ।
त्वरितं विलिलेख राक्षसा-
कृतिमेषोपलखण्डके स्फुटम् ।।18।।

अथ रावणरूपचित्रणाद्
विरता यावदभूद् विदेहजा ।
दनुजाऽतुलसंज्ञका तदा
कृतकार्या गतवत्यदर्शनम् ।।19।।

अथ तावदरण्यवासतो
न्यवृतत् तत्क्षण एव राघवः ।
तनुते विधिरेव तत्क्षणात्
न जनश्चिन्तयितुं हि यत्क्षमः ।।20।।

फिर एक दिवस सेवा में रत उस दुष्टा ने
पूछा—'देवी रावण के घर में रहतीं जब।
कैसी थी आकृति उसकी मुझे बताओ तो
उत्सुकता शान्त करो, रच चित्र उसी का अब ॥ १६ ॥

यह सखी भाव में पगी हुई
मेरी सेवा में लगी लगन।
सीता ने सोचा सेवक की
इच्छा का करना है पालन ॥ १७ ॥

वह सरल प्रकृति सीता उसकी
छल नीति न समझ सकी सहसा।
राक्षस का चित्र तुरन्त रचा
पाषाण खंड पर किञ्चित् स्फुट-सा ॥ १८ ॥

रावण का चित्र बनाकर जब
सीता जब उससे विरत हुई।
बन गया कार्य तब अतुला का
जो तत्क्षण वहीं अदृश्य हुई ॥ १९ ॥

तदनन्तर राघव भी वन से
तत्काल लौट आ गये वहाँ।
व्यापती विधाता-गति तत्क्षण
कोई न समझता जिसे यहाँ ॥ २० ॥

प्रपतेदथ मत्पतेरिहा-
सुरपाशाकृतिचित्रणेऽप्रिये ।
नहि दृष्टिरथो च नो भवे-
त्कथमप्यस्य मनो विशङ्कितम् ।।21।।

इति चिन्तयमानमानसा
तनुगात्री जनकात्मजा तदा ।
विनिमार्ष्टुमदः स्वचित्रितं
समियेषाहितभूरियत्नका ।।22।।

अथ यावदमुष्य मार्जनं
विदधे तावददः स्फुटं बभौ ।
अगमत्परमावशा ततो
महतीं व्याकुलतां विदेहजा ।।23।।

किमिदं, नहि मृज्यते मया
कथमेतादृशवक्त्रचित्रणम् ।
कथमेव च मृज्यमानता-
वशतोऽति स्फुटताऽस्य जायते ।।24।।

इति चित्रमिवाभवत्तदा
न रहस्यं बुबुधे च जानकी ।
नहि कश्चन दानवीं गतिं
प्रभवेद् वेदितुमित्यसंशयम् ।।25।।

अतुला गमनाद्विदेहजा-
नयनाभ्यां किल दूरतः परम् ।

राक्षस के अप्रिय चित्रण पर
ममपति की दृष्टि न पड़े कहीं।
देखकर उसे उनके मन में
कोई शंका उठ सके नहीं ॥ २१ ॥

इस भाँति सोचती मन ही मन
मृदुला सीता चिन्ता-निमग्न।
चित्र को मिटाने के हितार्थ
था किया तुरत अतिशय प्रयत्न ॥ २२ ॥

अब जितना उसे मिटाती वह
उतना ही और चमकता था।
तब हुई विवश महती सीता
उनकी बढ़ती थी व्याकुलता ॥ २३ ॥

यह क्या है, मिटता नहीं यद्यपि
मैं इसे मिटाती बार-बार।
यह चित्र मिटाने से स्फुट
होता जाता क्यों बार-बार ॥ २४ ॥

यह तो विचित्र-सी बात हुई
जानकी न रहस्य समझ पायीं।
इसमें दिखता सन्देह नहीं
पड़ती दानव गति दिखलायी ॥ २५ ॥

अतुला सीता की आँखों से
इस समय सहज ही दूर गयी।

प्रविवेश निजीयमायया
ऽसुरचित्रे तदभूच्च तद्वशे ।।26।।

नहि मार्ष्टुमिदं यदाऽशकद्
दनुजाकारविलेखनं तदा ।
अपहर्तुमिदं स्वभर्तृतः
शयनान्तर्निदधे विदेहजा ।।27।।

तदनन्तरमेव राघवः
शयनं विश्रमकाम्यया ययौ ।
समुपागतमात्र एव च
महदुष्णत्वमिहान्वभूदसौ ।।28।।

सुतरां समभूच्च विक्लवः
परिशान्तोऽपि जितेन्द्रियोऽपि च ।
स तु धैर्यधनोऽपि सन्नभूच्
च्युतधैर्यो रघुनन्दनस्तदा ।।29।।

नहि वेद स कारणं कथं
निजदेहे ज्वलिताऽनलावली ।
नहि पूर्वमियं कदाचना-
ऽप्यनुभूता भृशकष्टदा क्वचित् ।।30।।

समुवाच स लक्ष्मणं तदा
नचिरान्मार्गय कारणं प्रिय ।
मयि केयमनल्पतोष्णता
किमिवैषा दहतीव मामिह ।।31।।

मायावश किया प्रवेश उसी
चित्र में स्वयं ही समा गयी ॥ २६ ॥

उस समय दनुज की आकृति क़ो
जब नहीं मिटा पायीं सीता।
निज पति से उसे छिपाने को
शयनान्तः रख बैठीं सीता ॥ २७ ॥

विश्राम हेतु श्रीराम तभी
थे शयन-कक्ष में आये जब।
शय्या पर सहज लेटते ही
अति ताप लग रहा उनको तब ॥ २८ ॥

जो शान्त जितेन्द्रिय रहे सदा
वे राम इस समय थे अधीर।
जो सब प्रकार थे धैर्यवान्
इस समय हो उठे वे अधीर ॥ २९ ॥

वे कारण नहीं समझ पाये
देह में जलन क्यों व्याप रही।
इसके पहले इस तरह कष्ट
अनुभव में आया कभी नहीं ॥ ३० ॥

उन्होंने लक्ष्मण से कहा बन्धु !
कारण का पता लगाओ तुम।
यह कैसा ताप भरा मुझ में
हो रही जलन, अब देखो तुम ॥ ३१ ॥

श्रवणाद्वचसो गुरोरनु
समभूत् तत्क्षणमेव लक्ष्मणः ।
गुरुवाक्यवशंवदो गुरो-
रसुखे हेतुविमार्गणाऽऽतुरः ।। 32 ।।

बहुमार्गणतत्परोऽपि सन्
न यदा किञ्चिदसाववैक्षत ।
स तदा खलु पर्यवर्तय-
च्छयनं भ्रातृवशे स्थितः सदा ।। 33 ।।

परिवर्तनकाल एव तद्
दशकण्ठाकृतिचित्रमापतत् ।
सममेव विदेहजाहृदा
ननु वैकल्यभृतेन सत्वरम् ।। 34 ।।

प्रविलोक्य बभूव तत्क्षणा-
दतिविच्छायमुखो रघूद्वहः ।
उपरक्त इव क्षपाकरो
हिमविध्वस्त इव द्रुमोऽथवा ।। 35 ।।

किमिदं, कृतवांश्च को न्विद-
मिति पृच्छन्तमुवाच राघवम् ।
कृतमस्ति मयेति जानकी
मम चेटीवचनानुसारतः ।। 36 ।।

वचनं श्रुतमात्रमेव तद्
अकरोत्तं ध्रुवमर्द्धमूर्च्छितम् ।

अग्रज के सुनकर वचन तभी
लक्ष्मण तत्क्षण दिखते तत्पर।
बंधु-वाक्य के वशीभूत
उनके दुःख में वह थे आतुर॥ ३२॥

उसके अन्वेषण में तत्पर
उनको जब कुछ भी दिखा नहीं।
तब बंधु वशी उन लक्ष्मण ने
शय्या को उलटा किया वहीं॥ ३३॥

उल्टा करने के समय तभी
रावण की आकृति गिरी वहाँ।
उस समय हृदय सीता का भी
आकुलता से भर गया वहाँ॥ ३४॥

वह चित्र देखकर तत्क्षण वे
श्रीराम मलिन-मुख हुए तथा।
हिम से विध्वस्त वृक्ष अथवा
चन्द्रमा ग्रहण से ग्रस्त तथा॥ ३५॥

'यह क्या है, किसने रचा इसे?'
पूछा राघव ने इस प्रकार।
सीता ने कहा—'रचा मैंने
दासी के ही वचनानुसार'॥ ३६।

सुनते ही ऐसा वचन राम
हो उठे अर्ध मूर्छित सहसा।

किमियं दनुजानुरागिणी
मम भार्या, कठिनाः खलु स्त्रियः ।। 37 ।।

उषिता सुचिरं विधेर्वशाद्
दशवक्त्रालय एषका ननु ।
प्रणयोद्गमसम्भवो भवेत्
ननु तेनेति न सम्भवी नहि ।। 38 ।।

प्रमदा जगति प्रमादिनी-
त्यवलोक्यैव बुधा न्यरूपयन् ।
नहि[1] प्रत्ययमासु कर्हिचित्
तनुयात् कोऽपि पुमान् विवेकवान् ।। 39 ।।

अथ यत्कृत एव सन्ततं
गतवान् कष्टपरम्परामहम् ।
ननु सैव जनेऽपरे रता
किमु मे दुःखमतः परं भवेत् ।। 40 ।।

अधुना नहि वस्तुमालये
क्षणमप्यर्हति मामकेऽधमा ।
वधमर्हति चाशिवति क्रुधा
समुवाचावरजं स लक्ष्मणम् ।। 41 ।।

अपनेष्व ममाप्रियामथो
वनमेनां च नय त्वमाशिवतः ।
जहि चापि न जीविता चिरं
स्थितिभाक् स्यात् प्रमदा प्रमादिनी ।। 42 ।।

1. 'हे प्रे वा' इत्याश्रल्य प्रयोगः ।

'मम-पत्नी दनुज -प्रेम में क्यों ?
नारी होतीं कठिना सहसा ॥ ३७ ॥

विधिवश रावण के भवन मध्य
यह बहुत समय तक वहाँ रहीं ।
उससे हो गया प्रणय इनका
निश्चय ही असंभव कभी नहीं ॥ ३८ ॥

प्रमदा जग में हैं प्रमादिनी
ज्ञानी जन का विश्वास यही ।
इसलिए, विवेकी पुरुष कभी
करते उनका विश्वास नहीं ॥ ३९ ॥

जिसके हितार्थ झेलकर कष्ट
संघर्ष किया था लगातार ।
वह किसी अऩ्य पर अनुरक्ता
इससे मुझको है दुःख अपार ॥ ४० ॥

इस समय हमारे भवन मध्य
यह अधमा क्षण रुक सके नहीं ।
निश्चित ही यह वध-योग्या है
क्रोध में लखन से कहा वहीं ॥ ४१ ॥

'यह है अप्रिय ले जाओ इसे
इसको वन में छोड़ना उचित ।
वध करो, क्योंकि दुष्टा नारी
का जीवित रहना है अनुचित' ॥ ४२ ॥

रघुवंश्यमुखाद्विनिःसृताः
प्रलयाभ्राशनिसंनिभा इमाः ।
गहनां रुजमावहन् गिरो
विमले हन्त ! विदेहजाहृदि ।।43।।

अनुनेतुमिमं विदेहजा
कुपितं यत्नमवातनोद् बहु ।
कलयाऽपि शशाक तत्र ना-
नुनयाच्छाम्यति कोपभाग् जनः ।।44।।

नहि मे रतिरस्ति राक्षसे
कथमेनेन सहास्तु सा प्रभो ! ।
क्व च दुर्मतिरास्त राक्षसः
क्व च सर्वस्वमिवास्ति मे भवान् ।।45।।

चरणौ शरणं तव प्रभो !
सततं ध्यानपरा ययोरहम् ।
उदितस्तव मानसे भ्रमः
स विवेकात्त्वयकाऽपनीयताम् ।।46।।

नहि [1]प्रत्ययमादधात् प्रभू
रघुवश्यो जनकात्मजागिरि ।
वधमेव समादिदेश च
सुतरां कोपवशं समागतः ।।47।।

विनिहत्य विदेहजां द्रुतं
हृदयं तच्छवतः पृथक् कुरु ।

1. 'हे प्रे वा' इत्याश्रित्य प्रयोगः ।

रघुवंश शिरोमणि के मुख से
सुन प्रलय-सदृश वाणी सहसा।
दुःख है, सीता का विमल हृदय
अति पीड़ित-सा दिखता वैसा ॥ ४३ ॥

राम के कोप की शान्ति हेतु
सीता ने किया प्रयत्न अधिक !
पर वे न सफल हो सकीं क्योंकि
क्रोधी न विनय से शान्त तनिक ॥ ४४ ॥

'अनुराग न मम दानव के प्रति
हो सके कभी भी मेरे प्रभु !
है कहाँ दुष्ट राक्षस वह तो
हैं सदा आप ही मेरे प्रभु ॥ ४५ ॥

है शरण आपके चरणों में
जिसमें है मेरा नित्य ध्यान।
आपको हुआ जो भ्रम उसका
करिये विवेक से ही निदान ॥ ४६ ॥

सीता की बातों पर राघव
ने नहीं तनिक विश्वास किया।
सीता के वध का उसी समय
क्रोध में सहज आदेश दिया ॥ ४७ ॥

हत्या कर सीता की तुरन्त
शव से वह हृदय पृथक करें।

उपनेष्व च मामिदं यतः
कृतकार्ये त्वयि विश्वसिम्यहम् ।। 48 ।।

इति वाचमुदीरितामुभौ
विनिशम्याशु विनिर्गतौ वनम् ।
तदुपेत्य च कस्यचित्त्विमौ
तरुमूलं विपुलं समाश्रितौ ।। 49 ।।

समुवाच तदा विदेहजा
वचनं लक्ष्मणमाधिपीडिता ।
ननु पालय वत्स ! सत्वरं
गुरुणा ऽऽदिष्टमिहास्ति यत्तव ।। 50 ।।

मनसाऽपि ऋते न चिन्तितः
स्वपतेरन्यजनो मया क्वचित् ।
अपराधमृतेऽपि मत्प्रभु-
र्मयि दण्डं सृजतीति किन्विदम् ? ।। 51 ।।

जगतां पतिरस्ति मे पति-
र्ऋषिवर्यो जनकोऽस्ति मे पिता ।
कुलवृद्धिकरः कुमारको
मम गर्भेऽस्ति तथाऽपि यामि भोः ।। 52 ।।

परलोकमहं विधेर्वशान्
मम तावद् गतिरीदृशी बत ।
विधिना गमिताऽस्मि दारुणा-
महमेतां करुणां दशामिह ।। 53 ।।

लाओ मम निकट उसे जिससे
तव कार्य पर हम विश्वास करें ॥ ४८ ॥

सुनकर राघव के वचन तुरत
लक्ष्मण-सीता वन गये वहाँ ।
फिर एक विशाल वृक्ष के ही
आश्रय में स्थित हुए वहाँ ॥ ४९ ॥

अत्यन्त पीड़िता सीता ने
तब लक्ष्मण से इस भाँति कहा ।
'अब तुरत करो पालन हे वत्स !
जो प्रभु ने है आदेश दिया' ॥ ५० ॥

पति के अतिरिक्त कभी मैंने
मन में न किसी का किया ध्यान ।
अपराध बिना प्रभु ने मुझको
क्यों दिया दण्ड का यह विधान ॥ ५१ ॥

त्रिभुवन पति ही मेरे पति हैं
तात हैं जनक ऋषिवर्य सहज ।
गर्भ में कुमार वंश वर्धक
फिर भी मैं तो जा रही सहज ॥ ५२ ॥

विधिवश परलोक जा रही मैं
मेरी ऐसी गति हुई यहाँ ।
दुर्भाग्य दे रहा दारुण-दुःख
करुणा से मैं भर उठी यहाँ ॥ ५३ ॥

ननु लक्ष्मण ! दृष्टवानसि
स्वसृभावेन सदैव मामिह ।
मम मृत्युरतीव सौख्यद -
स्तव हस्तादयमाप्यते यदि ।।54।।

प्रहराशु ततस्तथा मयि
यमलोकं समुपैमि मे प्रियम् ।
परिपालय वत्स ! ते गुरो-
र्वचनं मा चिरमस्तु ते प्रिय ! ।।55।।

इति धीरमुदीर्य जानकी
वचनं मौनमुपाश्रयद् बुधा ।
क्रकचेन विदारितो यथा
गहनं कष्टमवाप लक्ष्मणः ।।56।।

स्वसृतुल्यविदेहजां कथं
पशुमारं ननु मारयान्यहम् ।
अतिदारुणकर्मनिष्ठुरो
विनिहन्तुं प्रभुरस्मि नो इमाम् ।।57।।

समवेक्ष्य तु चिन्तनाकुलं
रघुवंश्यं जनकात्मजा तदा ।
नहि साहसमस्ति मे वधे
कठिनोऽस्यायमिति प्रपद्य सा ।।58।।

परिदीपनकाम्ययैव तम्
अधिचिक्षेप पदैरनर्गलैः ।

लक्ष्मण ! तुमने देखा मुझको
निज भगिनि-तुल्य ही सदा यहाँ ।
इसलिए, मृत्यु मम सुखदायी
यदि हुई तुम्हारे हाथ यहाँ ॥ ५४ ॥

तो मुझ पर करो प्रहार तथा
जिससे मैं जाऊँ यमपुर प्रिय ।
तुम करो बन्धु आज्ञा-पालन
इसमें न विलंब करो हे प्रिय' ॥ ५५ ॥

इस भाँति धीर वाणी कहकर
हो गई मौन जानकी वहाँ ।
आरे से चिरे हुए से वे
लक्ष्मण अति पीड़ित हुए वहाँ ॥ ५६ ॥

'जो मेरी बहन-सदृश सीता
मारूँ कैसे उनको पशुवत् ।
प्रभु ने भी दारुण कर्म निठुर
सौंपा मुझको जो वध के हित' ॥ ५७ ॥

लक्ष्मण को चिन्तातुर लखकर
जानकी सोचती रही यही ।
मेरा वध करने का साहस
लक्ष्मण में दिखता यहाँ नहीं ॥ ५८ ॥

उनको उकसाने के हितार्थ
कह उठीं अनर्गल कठिन वचन ।

क्रुध एव वशं गतो न्वयं
मम कच्चिद् विदधातु हिंसनम् ।। 59 ।।

किमु लक्ष्मण ! हंसि मां नहि
किमु चित्ते तव वर्ततेऽधुना ।
अबलां समवेक्ष्य मानसं
यमिनामप्यबलं प्रजायते ।। 60 ।।

उदितोऽनुचितोऽस्ति दूषिते
ह्यभिसन्धिस्तव मानसे यदि ।
त्यज तावदिमं बलाच्छठ !
तव हस्ते पतितास्म्यहं नहि ।। 61 ।।

इति वाचमिमां निशम्य स
भृशमुद्वेगकरीं क्रुधा श्वसन् ।
अचिचिन्तदसौ रघूद्वहो
कथमात्मेह मया प्रवर्त्यताम् ।। 62 ।।

मयकैव समं समागता
विपिनेऽस्मिञ्जनकात्मजेत्यतः ।
यदि हन्मि न तामहं तदा
परिवादोऽवतरेन्नवो मम ।। 63 ।।

हनने त्वहमस्यका गुरु-
गुरुवाक्यं परिपालयञ्जनैः ।
नहि दोषदृशा कथञ्चन
परिदृश्येय विचिन्तयन्निति ।। 64 ।।

जिससे हो क्रुद्ध लक्ष्मण यह
कर डालें मेरा भी हिंसन ॥ ५९ ॥

'लक्ष्मण ! क्यों वधते नहीं मुझे
इस समय तुम्हारे मन में क्या ?
अबला नारी को देख सहज
निर्बल मन होता ऋषि मुनि का ॥ ६० ॥

यदि तव मन में अनुचित विचार
मेरे प्रति जागा हो वैसा।
तो उसे त्याग दो शठ ! मैं भी
तव हस्त न पड़ सकती सहसा' ॥ ६१ ॥

सुनकर ऐसी उद्वेगकरी
वाणी लक्ष्मण का रोष बढ़ा।
सोचा अब ऐसी स्थिति में
क्या करना होगा मुझे यहाँ ॥ ६२ ॥

मेरे ही साथ जानकी यह
इस विपिन मध्य आ गयी यहाँ।
यदि वध न करूँ इसका फिर तो
परिवाद फैल जायेगा वहाँ ॥ ६३ ॥

यदि अग्रज की आज्ञा से मैं
इसका वध कर डालूँ निश्चित।
तो लोगों की दृष्टि में कभी
यह कार्य नहीं होगा अनुचित ॥ ६४ ॥

त्वरितं विनिहन्तुमुद्यतो
दृढयित्वा स्वमनोऽतिकोमलम् ।
ददृशे पुरतो विदेहजां
प्रयतामात्मविसर्जनोत्सुकाम् ।। 65 ।।

असिमुद्धृतवानयं बला-
दबलायां विनिपातनाय हा ।
कथमप्यथ तां स नास्पृशत्
पतितोऽभूद्विफलश्च भूतले ।। 66 ।।

पुनरेष समुद्दधार तं
दृढयंस्तां प्रति मानसं स्वकम् ।
पतितो न च लक्ष्य इत्यतो
नितरां विस्मयमाततान सः ।। 67 ।।

किमिदं, न मयेदृशं क्वचि-
दनुभूतं न च वा विलोकितम् ।
इति कारणमार्गणाकुलो
बहुमार्गां स्वमतिं व्यधादयम् ।। 68 ।।

असिपातनतत्परस्य मे
नयने यत् पततोऽस्यकां ततः ।
करुणाऽङ्कुरणैव चेतसि
मम लक्ष्यच्युतिकारणं भवेत् ।। 69 ।।

इति कारणचिन्तनोत्तरं
दृढमेष स्वदृशौ न्यमीलयत् ।

वध हेतु हुए तैयार तुरत
निज कोमल मन को किया सुदृढ़ ।
सामने जानकी को देखा
प्राणों के त्याग हेतु उत्सुक ॥ ६५ ॥

अबला के वध के हेतु हाय !
लक्ष्मण ने खींचा बलात् खड्ग ।
पर देवी को छू सका न वह
भूतल पर गिर ही गया खड्ग ॥ ६६ ॥

था उठा लिया उसको पुनः
दृढ़ता से उन पर वार किया ।
पर, गिरता वह दिख पड़ा नहीं
लक्ष्मण को अचरज अधिक हुआ ॥ ६७ ॥

यह है क्या मैंने कभी नहीं
देखा अथवा अनुभव न किया ।
कारण का पता लगाने में
आकुल हो बहुत विचार किया ॥ ६८ ॥

असि का प्रहार करने में जब
सीता पर पड़ती दृष्टि सहज ।
चित् में करुणा भर जाने से
लक्ष्य भी चूकता गया सहज ॥ ६९ ॥

करके विचार इस कारण का
दृढ़ता से आंखों को मूंद लिया ।

पुनरेव च वेगवत्तम-
मसिमस्यां प्रजहार लक्ष्मणः ।। 70 ।।

बलवद् पतितोऽपि स ह्यसिः
क्षतिमस्या विदधे न काञ्चन ।
निपपात कृतापराधको
गतसंज्ञो भुवि लक्ष्मणस्तु हा ! ।। 71 ।।

अवधीन्न निरागसं क्वचि-
ददसीयोऽसिरिति प्रमाणितम् ।
बलवत्पतितेन तेन नो
हतभाग्यां जनकात्मजां घ्नता ।। 72 ।।

अथवा जनकात्मजाकृते
दृढचर्माऽऽस्त सतीत्वमेव हि ।
यदरक्षदमूं प्रहारतो
ऽक्षतरूपामभितः ससर्ज च ।। 73 ।।

व्यथिता प्रविलोक्य जानकी
गतसञ्ज्ञं भुवि लक्ष्मणं तदा ।
'विललाप सबाष्पगद्गदं
सहजामप्यपहाय धीरताम्' ।। 74 ।।

अयि वत्स ! कुतो ऽकुतोभयो
भुवि निद्रासि पृथग्जनो यथा ।
हतभाङ् न मृता ऽस्म्यहं पुन-
र्लुठसि त्वं भुवि तात ! किं वद ।। 75 ।।

फिर बड़े वेग से लक्ष्मण ने
सीता पर खड्ग प्रहार किया ॥ ७० ॥

दृढ़ता से हुआ प्रहार किन्तु
देवी का कुछ न अनिष्ट हुआ।
अपराध किया, निश्चेतन हो
लक्ष्मण भूपर गिर पड़े वहाँ ॥ ७१ ॥

वध हुआ न इससे कभी किसी
निर्दोष व्यक्ति का, सिद्ध यही।
हतभाग्य जानकी पर क्योंकि
इसका प्रहार हो सका नहीं ॥ ७२ ॥

अथवा दृढ़चर्मा सीता का
अपना सतीत्व ही दिखा प्रबल।
जिससे खड्ग-प्रहारों का
चल सका न उन पर कुछ भी बल ॥ ७३ ॥

जानकी देख यह हुईं व्यथित
निश्चेत लक्ष्मण को भूपर।
गद्गद् कण्ठ से विलाप किया
निज दृढ़ता-धैर्य सहज तजकर ॥ ७४ ॥

तुम निर्भय हो, किसलिए वत्स !
हो पृथक्, सो रहे हो भूपर।
दुर्भाग्य, न मैं मर सकी किन्तु
बोलो क्यों लोट रहे भूपर ॥ ७५ ॥

बहुयत्नमुपाश्रयन्त्यसौ
प्रकृतिस्थं पुनरेनमातनोत् ।
प्रकृतिं गतवान् स नाददे
वचनं ग्लानमना मनागपि ।। 76 ।।

समयं गमयन्नधोमुखः
प्रविशन्नात्मनि च ह्रिया सुधीः ।
तमसा मलिनो गिरिर्यथा
मलिनाभां बिभराम्बभूव सः ।। 77 ।।

अथ किञ्चिदपि ब्रुवन्नहि
न्यवृतन्मन्दतरैः पदक्रमैः ।
कृतदुष्कृतदुःखभावना-
व्यथितः स्वं पुरमेव लक्ष्मणः ।। 78 ।।

पथि यांश्च मृतं ददर्श स
मृगमेकं तत उज्जहार च ।
हृदयं समुपानयच्च तत्
प्रभुरामार्थमुपायनं कृती ।। 79 ।।

(उपजातिवृत्तम्)

सीता प्रमीता नहि साम्प्रतं सा
मया हता जीवति जीवलोके ।
प्रमाणमस्या हृदयं प्रपश्य
मयोपनीतं तव दर्शनार्थम् ।। 80 ।।

अत्यन्त यत्न से लक्ष्मण को
सीता ने था चैतन्य किया ।
आ गया होश, मन रहा म्लान
इसलिए, न कुछ भी वचन कहा ॥ ७६ ॥

बीतता समय, वे अधोमुखी
लज्जा से उनका भाव भरा ।
जैसे पर्वत पर अन्धकार
मलिनाभा बनकर हो उतरा ॥ ७७ ॥

वे बोले कुछ भी नहीं वहाँ
जो पाप किया, थे अस्तु दुःखित ।
लक्ष्मण अयोध्या लौट पड़े
मन ही मन थे वे अधिक व्यथित ॥ ७८ ॥

मार्ग में उन्हें दिख गया एक
मृग मरा हुआ था पड़ा वहाँ ।
फिर, हृदय निकाल लिया उसका
प्रभु के हितार्थ ले गये वहाँ ॥ ७९ ॥

सीता अब नहीं रही मैंने
उनके प्राणों का हनन किया ।
देखिये हृदय यह है प्रमाण
आपके लिए ही, साथ लिया ॥ ८० ॥

इत्येतदुक्त्वा परिदर्शयां स
बभूव तद् भ्रातरमाह चामुम् ।
कृतं मया त्वद्वचनं कृतात्मन्
यथा नियुक्तोऽकरवं तथैव ।।81।।

दृष्ट्वाऽनुजानीतमसौ मनस्वी
विदेहजाया हृदयं घृणायाः ।
वशं गतः सन् समुवाच रामः
पशोरिवास्या हृदयं जघन्यम् ।।82।।

इत्येतदुक्त्वा स बभूव तूष्णीं
राज्यस्य कार्ये च मनो न्यधात्स्वम् ।
न तस्य भावः परिशुद्धिमागात्
सीतां प्रतीत्येतदभूद्विचित्रम् ।।83।।

यह कह कर दिखा दिया फिर तो
भ्राता से ऐसा तथ्य कहा ।
'आदेश आपका था जैसा
मैंने वैसा ही काम किया ॥ ८१ ॥

देखकर मनस्वी राघव का
अन्तर तो घृणा से व्याप्त हुआ ।
'यह पशु का घृणित हृदय ही है'
लक्ष्मण से था इस भाँति कहा ॥ ८२ ॥

यह कह कर वे हो गये शान्त
राज्य के कार्य में लगा चित्त ।
पर वह सन्देह जानकी पर
था मिटा न यह कैसा विचित्र ॥ ८३ ॥

एकविंशः सर्गः

(लवजन्मोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

विदेहजां शून्यवने विहाया-
ऽयोध्यां सुमित्रातनये निवृत्ते।
एकाकिनी दुःखभरार्दिता च
चक्रन्द सीता कुररीव भीता ।।1।।

तस्यास्तदा दुःखभरो बभूव
बहिर्गतो ह्यश्रुभरच्छलेन।
शून्या दिशः सम्प्रविलोकयन्ती
'स्वमेव सा दुष्कृतिनं निनिन्द' ।।2।।

नूनं मया पूर्वतनेषु जन्म-
स्वतीव घोरं कृतमस्ति पापम्।
यत्तस्य साक्षात्परिणामरूपं
समश्नुवे कष्टमिदं कठोरम् ।।3।।

कठोरगर्भाऽप्यहिवद् वनेऽस्मिन्
त्यक्ताऽस्मि शङ्कालुहृदा स्वभर्त्रा।
बाढं निरागा अपि सर्वथाऽह-
मकिञ्चना दैवगतिर्विचित्रा ।।4।।

एक विंश सर्ग

(लवजन्मोपाख्यान)

सीता को त्याग शून्य वन में
आ गये अयोध्या में लक्ष्मण।
सीता भयभीता दुःख व्यथिता
करतीं हिरणी समान क्रन्दन ॥ १ ॥

तब उनके दुःख की व्यथा, अश्रु
बाहर आकर कर रहे प्रकट।
सीता लख शून्य दिशाओं को
निज दुष्कृति-निन्दा किया विकट ॥ २ ॥

सच है पिछले जन्मों में मैंने
था किया पाप अत्यन्त घोर।
जिसके प्रत्यक्ष परिणाम रूप
अब भोग रही हूँ दुःख कठोर ॥ ३ ॥

शंकालु हृदय पति परित्यक्ता
गर्भिणी सर्पमय वन में मैं।
निर्दोष सर्वथा अकिंचना
दैवी गति अति विचित्र ही है ॥ ४ ॥

चिरं दशास्यस्य गृहेऽधिवासे
न चिन्तितोऽभून्मनसाऽपि योऽसौ ।
रक्षोऽधमे मे मनसोऽनुरक्ति-
स्तत्रेत्यधिक्षेपवशं गताऽस्मि ।।5।।

त्यागो न भर्त्रा तुदते तथा मां
मिथ्या यथा लाञ्छनमेतदस्मात् ।
न जीवनस्यास्ति ममाभिलाष-
स्त्यागस्तु तस्याभिमतो मतो मे ।।6।।

त्यागाय यद्यप्यहमुत्सुकाऽस्मि
निरर्थकस्यास्य तिरस्कृताऽहम् ।
प्रजानिषेको मयि वर्तमानो
भर्तुर्भवत्यत्र ममान्तरायः ।।7।।

शून्या दिशो मे सकला विभान्ति
शून्ये वने कोऽपि न मे सहायः ।
किं वा करोम्यत्र क्व वा च यामि
कं वाऽऽह्वयाम्यत्र च मेऽस्ति नायः[1] ।।8।।

वधू रघूणां भुवि विश्रुतानां
ब्रह्मज्ञराजर्षिविदेहपुत्री ।
दैवस्य तावद्विपरीतभावाद्
दशामहं भोः ! करुणां गताऽस्मि ।।9।।

इत्थं सबाष्पं विललाप सीता
तस्मिन् वने श्वापदसङ्कुले सा ।

1. न अयः । अयः शुभावहो विधिः ।

चिरकाल दशानन के गृह में निवास से जब
मेरे मन ने उसका न कदापि विचार किया।
पर, मुझ पर यह मिथ्या आरोप लगा कैसा
कि मैंने उस अधम राक्षस से प्रेम किया ॥ ५ ॥

पति ने मुझको त्याग दिया इसका न क्लेश
है दुःख यही मिथ्या लांछन जो लगा दिया।
इसलिए, न जीवित रहने की अभिलाषा अब
इस जीवन का ही त्याग दिख रहा मुझे यहाँ ॥ ६ ॥

यद्यपि जीवन के त्याग हेतु मैं उत्सुक हूँ
जो बना निरर्थक और तिरस्कृत मैं ऐसी।
फिर भी, इस समय गर्भ में पति का अंश यहाँ
यही बन गयी मेरे लिए अड़चन ऐसी ॥ ७ ॥

इस समय दिशाएं शून्य दिख रहीं मुझे सकल
इस शून्य विपिन में कोई कहीं सहाय नहीं।
क्या करूँ यहाँ, अथवा जाऊँ मैं भला कहाँ ?
मैं किसे पुकारूँ मेरा अब कल्याण नहीं ॥ ८ ॥

रघुकुल जग में विख्यात्त, वधू मैं उस कुल की
ब्रह्मज्ञ राज ऋषि जनकराज की पुत्री मैं।
दैव ही इस समय जब दिखता विपरीत यहाँ
अब पहुँच गयी हूँ करुण-दशा में ऐसी मैं ॥ ९ ॥

इस भाँति वन्य पशुओं से संकुल उस वन में
सीता ने अति करुणा से वहाँ विलाप किया।

विदारयेद् दीर्घतरं यदद्रिं
विलापयेद् यत्सुतरामयोऽपि ।। 10 ।।

आक नमाजगाम
धृ[illegible] महिषस्य रूपम् ।
तत्रैव यत्रास्त विदेहपुत्री
वृक्षस्य कस्यापि तले निषण्णा ।। 11 ।।

नेत्रद्वये तस्य बभूव तादृक्
किञ्चित्समाकृष्यत येन सीता ।
तन्मार्गगा चापि बभूव सद्य-
स्तमेव दीनानुससार चापि ।। 12 ।।

स्वैरं व्रजन्नेष वनस्य मध्ये
विदेहपुत्र्यानुगतः समीपे ।
स्थितोऽभवद् वज्मृगनामकस्या-
श्रमस्य कारुण्यनिधेर्महर्षेः ।। 13 ।।

ऋषिस्तदा तद्रुदितानुसारी
विदेहपुत्रीं समवालुलोके ।
विद्धेन बाणेन खगेऽस्य यादृक्
चित्तद्रवोऽभूदधुनाऽपि तादृक् ।। 14 ।।

मा त्वं शुचं पुत्रि गमः कथञ्चित्
त्यक्ताऽपि भर्त्रा सुतरां निरागाः ।
त्वमाश्रमे मे वस यावदिच्छं
न तेऽत्र कष्टं भविता कथञ्चित् ।। 15 ।।

उनके विलाप से पर्वत सहज विदीर्ण हुआ
अथवा कठोर लोहा भी तो था पिघल गया ॥ १० ॥

धारण करके उस समय महेन्द्र भी महिष रूप
सुनकर क्रन्दन सीता का वे आ गये वहाँ ।
जिस तरुवर की छाया में सीता सती सहज
थीं बैठी वे वैदेही भी उस समय वहाँ ॥ ११ ॥

उसके दोनों नेत्रों में तो कुछ ऐसा ही
आकर्षण था जिससे आकृष्ट हुई सीता ।
इसलिए, उस समय पीछे-पीछे वे
चल पड़ी अनुसरण करती सहज रूप सीता ॥ १२ ॥

उस वन में चलते हुए अकेले महिष रूप
के ही समीप वैदेही भी आ गईं वहाँ ।
वह भी वज्रमृग नामक ऋषि के आश्रम में
आकर सहसा रुक गया उस समय वहाँ ॥ १३ ॥

उस समय महामुनि ने क्रन्दन-अनुसार वहाँ
था जनकराज पुत्री को देखा जैसे ही ।
बाण से विद्ध क्रौंच को देख जो हुई दशा
उस समय द्रवित हो उठा चित्त भी वैसे ही ॥ १४ ॥

'हे पुत्रि ! शोक मत करो यहाँ तुम किसी भाँति
यद्यपि तुम पति परित्यक्ता हो, कुछ दोष नहीं ।
इस आश्रम में तुम रहो स्वेच्छा से कन्ये ।
होगा तुमको अब किसी भाँति भी कष्ट नहीं ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा समनाययत्तां
स्वमाश्रमं सर्वजनानुकम्पी ।
तपोनिधिर्वज्मृगनामकोऽसौ
सीतां कुटीरं च विनिर्दिदेश ।। 16 ।।

तस्मिन् कुटीरे समयं नयन्ती
प्राचीव कालेन सहस्त्ररश्मिम् ।
साऽसोष्ट पुत्रं रघुवंशरत्नं
योऽस्या अभूत्सान्त्वनमेकमात्रम् ।। 17 ।।

प्रसूतिकालेऽस्य महेन्द्रपत्नी
धात्रीक्रियाजातमवोढ साक्षात् ।
का वा नु तस्यां विपिने स्थिताया-
मन्या क्रियां कर्तुमिमामलं स्यात् ।। 18 ।।

पुत्रस्य जातस्य च जातकर्मा-
दिकं महर्षिः स्वयमेव चक्रे ।
तस्मै ददौ नाम च मङ्कुटेति
संवर्धयामास तमाशिषा च ।। 19 ।।

इत्थं प्रजातो रघुनन्दनस्य
श्रीरामभद्रस्य सुतः शुभोऽसौ ।
प्रवर्धितोऽभूदुपलालितश्चा-
श्रमे ऋषेर्वज्मृगनामकस्य ।। 20 ।।

स एव तावज्जनकात्मजाया
आलम्बनं नाम बभूव तत्र ।

ऐसा कहकर उन जनानुकम्पी ऋषिवर ने
सीता को निज आश्रम में लाकर वास दिया।
फिर उन वज्मृग नामक महर्षि ने देवी को
आश्रम की एक कुटीर मध्य स्थान दिया ॥ १६ ॥

उस कुटिया में कुछ समय बिता कर सीता ने
समयानुसार था एक पुत्र को जन्म दिया।
रघुवंश रत्न अथवा सहस्र रविरश्मि सदृश
वह बालक सीता हेतु सान्त्वना रूप हुआ ॥ १७ ॥

जन्म के समय साक्षात् महेन्द्र की पत्नी ने
उस कुटिया में धात्री का ही था कार्य किया।
अथवा इस वन में जहाँ अकेली सीता थीं
कोई दूसरी, भला, करती यह जन्म क्रिया ॥ १८ ॥

पुत्र के जन्म के बाद सहज ही जातकर्म
मुनि वज्मृग ने अपने हाथों से स्वयं किया।
'मंकुट' ऐसा ही नाम रखा मुनि ने उसका
आशीर्वाद देकर बालक को पुष्ट किया ॥ १९ ॥

इस भाँति पुत्र रघुनन्दन का जो अति सुन्दर
श्रीरामचन्द्र का तनय जो कि शुभ रूप वहाँ।
ऋषिवर वज्मृग के आश्रम में लालन-पालन
होने से वह बालक संवर्धित हुआ वहाँ ॥ २० ॥

वह बालक जनकराजपुत्री के लिए वहाँ
इस समय वस्तुतः आलंबन बन गया सहज।

यदीयवक्त्राम्बुजदर्शनेन
कालं स्वकं सा क्षपयाम्बभूव ।।21।।

निभालयामास मुखे तदीये
पत्युर्निजस्य प्रतिबिम्बमेषा ।
तद्दुःखमस्या विरहेण जात-
मरुन्तुदं नैकगुणं ततान ।।22।।

हन्तू रिपूणां जगतां नियन्तुः
समस्तपृथ्वीपरिपालकस्य ।
श्रीरामभद्रस्य सुतः प्रजातो
वने, विचित्रो नियतेः क्रमोऽयम् ।।23।।

न तत्र तातः समुपस्थितोऽभू-
दिमं शिशुं लालयितुं निजाङ्के ।
धात्री न वा धापयितुं प्रियं तं
न चाभवन् मङ्गलवाद्यघोषाः ।।24।।

न चैव गीतानि पिकस्वनीभि-
र्गीतानि नारीभिरमन्दहर्षात् ।
न चैव नृत्यानि मनोहराणि
नृत्याङ्गनाभिर्विततानि तत्र ।।25।।

तत्राश्रमे केवलमास्त मन्त्र-
घोषोऽथवा पक्षिगणारवो वा ।
वातप्रकम्पद्रुमविच्युतानां
स्वनः फलानामथवा दलानाम् ।।26।।

उसका मुख-कमल देख-देख कर वैदेही
तो अपना समय बिताती रहती वहाँ सहज ॥ २१ ॥

उस बालक का मुख सीता के पति-मुख जैसा
जिस पर रघुनन्दन का प्रतिबिम्ब झलकता था।
जिससे अगणित गुण सहज व्याप्त हो रहे वहाँ
पति का वियोग दुःख उनको नहीं खटकता था ॥ २२ ॥

जिन रामभद्र ने जग में रिपु का किया नाश
जो सारी धरती का पालन कर रहे सहज !
उनका सुत पैदा हुआ विपिन के मध्य यहाँ
कैसा विचित्र क्रम विधि का है दिख रहा सहज ॥ २३ ॥

तात न उपस्थित हुए उसके वहाँ कभी
बालक को भी निज अंक मध्य था लिया नहीं।
अथवा न धात्री कर पायी उसका लालन
मंगलवाद्यों के घोष यहाँ हो सके नहीं ॥ २४ ॥

अथवा कोकिलकण्ठी महिलाओं के द्वारा
गीत भी सहर्ष कि उनसे गाये गये नहीं।
वे नृत्य मनोहर नर्तकियों के द्वारा भी
उस समय सहज ही वहाँ दिखाये गये नहीं ॥ २५ ॥

उस आश्रम में केवल होता था मंत्रघोष
हो रहा वहाँ पर केवल खग-कलरव अथवा।
वायु के प्रकम्पन से तरु-शाखा गिरने का
साथ ही फलों के गिरने का स्वर था अथवा ॥ २६ ॥

भावी नियन्तोत्तरकोसलाना-
मुन्मीलयामास निजाक्षियुग्मम् ।
अकिञ्चनाया नियतेर्विधानात्
स्वमातुरङ्के प्रथमं पृथिव्याम् ।। 27 ।।

संस्तभ्य दीना जनकात्मजा स्वं
दीर्घं विनिःश्वस्य यथा कथञ्चित् ।
विलोकयन्ती सुतवक्त्रपद्म-
मपाहरत्स्वाङ्गुलितोऽङ्गुलीयम् ।। 28 ।।

निभालयन्ती चिरमेतदेषा
दीना विवर्णाऽश्रुमुखी च तत्र ।
निवेशयामास सुताङ्गुलौ तत्
तस्यां तदेवाभरणं तदाऽऽसीत् ।। 29 ।।

ततो नु सम्प्रास्थित सा महर्षेः
कुटीरकं वज्मृगनामकस्य ।
ददर्श तं ध्याननिमीलिताक्षं
प्रसुप्तमीनह्रदतुल्यरूपम् ।। 30 ।।

तत्सन्निधौ सा तनयं निधाय
पयस्विनीं स्नातुमना जगाम ।
मार्गे प्रयान्ती च ददर्श नैकाः
सन्धारयन्तीः स्वमपत्यजातम् ।। 31 ।।

वक्षःस्थले वानरयोषितः स्वे
प्रकूर्दमानास्तरुतस्तरून् सा ।

जो उत्तर कोसल शासन का भावी शासक
उसकी आँखें थी खुली आश्रम मध्य यहाँ।
विधि के विधान से वही अकिंचन माता की
गोद में प्रथम पृथ्वी पर हुआ अवतरित यहाँ ॥ २७ ॥

वह किसी भाँति रोककर स्वयं को वैदेही
कष्ट में दीर्घ निःश्वास छोड़ती रही वहाँ।
पुत्र के मुख-कमल को देवी देखती हुई
अपनी उंगली से अंगुलीय तज दिया वहाँ ॥ २८ ॥

वे अधिक समय तक देख रही निज बालक को
थीं दीन-विवर्णा अश्रुमुखी जानकी वहाँ।
फिर शिशु को पहनायी अंगूठी वह सहज रूप
इस समय यही आभूषण उनके पास वहाँ ॥ २९ ॥

तदनन्तर वह वैदेही वज्मृगनामक ऋषि-
की कुटिया मध्य उस समय सहज प्रवेश किया।
देखा महर्षि को मुंदी आँख ध्यानावस्थित
सोई मछली से भरा सरोवर रूप वहाँ ॥ ३० ॥

पुत्र को उन्हीं के पास लिटाया सीता ने
पश्चात्-स्नान के लिए चलीं वैदैही भी।
पथ में जाते-जाते देखा वानरी समूह
जो निज शिशु को उस समय सहज संभाले थीं ॥ ३१ ॥

वक्ष से लगाये शिशु को कपि-युवती
इस तरु से उस तरु पर वे थीं कूद रहीं।

दृष्ट्वा च ताः प्राकृतिकार्द्रभावाद्
दयामयी वाचमिमामुवाच ।।32।।

कथं नु भो! यूयमितस्ततः स्वे-
नापत्यजातेन समुत्प्लवध्वे ।
किं वा न यूयं प्रविचारयध्वे
पतेद्यदीदं प्रसभं पृथिव्याम् ।।33।।

विहस्य ता ऊचुरिमां वयं तु
त्वत्तोऽधिकं स्मः खलु सावधानाः ।
अपत्यजातं हृदये निदध्म-
स्त्वद्वत्समाधिस्थ ऋषेर्न पार्श्वे ।।34।।

ध्यानं गतोऽसौ विनिमीलिताक्षो
बुध्येत ते पुत्रगतं न किञ्चित् ।
तद्युक्तियुक्तं वचनं निशम्य
व्रीडावनम्रा जनकात्मजाऽभूत् ।।35।।

अहो यदेता प्लवगस्त्रियोऽपि
जानन्ति तद् बुद्धिगतं न मेऽभूत् ।
अहो! नु मौग्ध्यं मम येन तावद्
आसामुपालम्भवशं गताऽस्मि ।।36।।

नैवं मयाऽऽसीत् करणीयमत्र
वनानि सत्यं बहुदोषवन्ति ।
विचिन्त्य सीतेत्थमकालहीनम्
ऋषेः कुटीरं पुनराजगाम ।।37।।

देखकर उन्हें स्वाभाविक दयाभाव जागे
इसलिए, जानकी ने उनसे यह बात कही ॥ ३२ ॥

तुन निज शिशुओं को साथ लिए क्यों कूद रहीं
इस तरु से उस तरु की डाली पर इधर-इधर ।
अथवा तुम सब ऐसा क्यों नहीं विचार रहीं
यदि कहीं अचानक ये गिर जायें धरती पर ॥ ३३ ॥

हंसकर वे वानरियाँ यों बोल पड़ीं उनसे—
'हम सावधान हैं निश्चित तुमसे अधिक कहीं ।'
हमने अपने बच्चों को हृदय लगाया है,
ध्यानावस्थित ऋषि-निकट तुम्हारी भाँति नहीं ॥ ३४ ॥

है आँख मुंदी जिनकी जो ध्यानावस्थित हैं
है बालक उनके पास, इसे जानते नहीं ।
उनकी इस युक्ति सहित वाणी को सुन
वह जनकराज तनया भी लज्जावनत हुईं ॥ ३५ ॥

अचरज है, वे वानरयुवती वह समझ रहीं
जो बात सहज ही समझ नहीं पायी थी मैं ।
सचमुच, यह मेरी महामूर्खता हुई प्रकट
जिसके कारण ही बनी व्यंग्य की पात्रा मैं ॥ ३६ ॥

जो किया अचानक मैंने वह था उचित नहीं
सचमुच अरण्य में दिखते बहुधा दोष यहाँ ।
इस भाँति सोचकर वैदेही शीघ्रातिशीघ्र
थीं लौट पड़ी मुनिवर की कुटिया-मध्य वहाँ ॥ ३७ ॥

अपाहरच्चापि सुतं ततः स्वं
स्वेनैव तं चापि नदीं निनाय ।
प्रबोधिता साध्विति वानरीभिः
कृतज्ञतां ताः प्रति धारयन्ती ।। 38 ।।

अत्रान्तरे मुक्तसमाधिकः सन्
यदा ऋषिर्नैव शिशुं ददर्श ।
किं जातमस्येति विचारमूढ-
श्चिन्तामनन्तां स तदा प्रपेदे ।। 39 ।।

कृताभिषेका जनकस्य पुत्री
सुतं न पश्येन्मयि संस्थितं चेत् ।
शोकान्धकारे गहने निमग्ना
किं सा प्रकुर्यादिति को नु वेद ।। 40 ।।

अहो! नु दुर्भाग्यपरम्पराऽस्याः
कष्टात्परं कष्टमियं प्रयाति ।
नैकस्य कष्टस्य हि यावदन्त-
स्तावद् द्वितीयं समुपस्थितं हा! ।। 41 ।।

अयं ध्रुवं घोरतरः प्रहारः
सीतान्तरङ्गं शकलानि कुर्यात् ।
नेमं क्षमा सोढुमियं भवेदि-
त्येवं महर्षिर्हृदि सम्प्रधार्य ।। 42 ।।

एकस्य नूत्नस्य शिशोस्तदानीं
पूर्वाकृतेः सर्गविधौ प्रसक्तः ।

सीता ने बालक को वहाँ उठाया था
लेकर उसको साथ ही नदी पर आईं वे ।
इन वानरियों ने उन्हें प्रबोधित किया उचित
उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन थीं करती वे ॥ ३८ ॥

इस बीच समाधि-मुक्त वे मुनिवर हुए तथा
जब देखा चारों ओर न बालक दिखा वहाँ ।
क्या हुआ यही सोचकर बने वे सहज मूढ
तब उनका मानस अति चिन्ता से भरा वहाँ ॥ ३९ ॥

जब जनकराज पुत्री करके स्नान अभी
आयेगी, मेरे निकट न सुत को देख कहीं ।
शोकान्धकार जो गहन उसी में डूबेगी
फिर क्या कुछ कर डालेगी पता नहीं ॥ ४० ॥

हा ! कैसी है इसकी दुर्भाग्य परम्परा
जो एक कष्ट के बाद आ रहा कष्ट अपर ।
जब तक होता है अन्त एक कष्ट का नहीं
तब तक समुपस्थित हो जाता है कष्ट अपर ॥ ४१ ॥

यह तो निश्चित ही अधिक भयंकर है प्रहार
जिससे होगा सीता का हृदय विदीर्ण सहज ।
जिसको न सहन कर पायेगी सीता सहसा
इस भाँति विचार किया महर्षि ने वहाँ सहज ॥ ४२ ॥

इसलिए, उस समय मुनिवर ने नूतन शिशु की
रचना का किया विधान, पूर्व शिशु के समान ।

पाषाणखण्डे निकटस्थ एष
शिश्वाकृतिं प्राग् विलिलेख विज्ञः ।। 43 ।।

विचिन्तयामास ततश्च विद्वान्
प्राणप्रतिष्ठाविधिमस्य यावत् ।
तावन्निवृत्तां सह जातकेन
निभालयामास विदेहजां सः ।। 44 ।।

त्वया मयि स्थापित एष बाल-
स्त्वय्यस्ति सीते! अधुना कथं नु? ।
श्रुत्वादसीयां गिरमाशु सीता
प्रचक्रमे वाचमिमां प्रवक्तुम् ।। 45 ।।

सत्यं मया स्थापित एष पूर्वं
त्वत्सन्निधावास्त परं ततोऽनु ।
पथि प्रयान्ती प्लवगीजनस्य
ऋषे! उपालम्भवशं गताऽहम् ।। 46 ।।

यथोक्तमाभिर्जनकात्मजा तद्
यथायथं प्रोक्तवती महर्षिम् ।
सम्प्रोच्य चैतत् समुवाच सा तं
मयाऽपनीतोऽर्भक एष एवम् ।। 47 ।।

अस्त्वेतदेषाऽऽकृतिरस्ति कस्य
किं वा चिकीर्षत्यनया भवान्नु? ।
सम्पृष्ट एवं समुवाच दीर्घ-
तपा महर्षिर्जनकात्मजां सः ।। 48 ।।

पास ही एक पाषाण खण्ड पर शिशु आकृति
की रचना कर, कर दिया मुनीश्वर ने विधान ॥ ४३ ॥

तदनन्तर ज्ञानी मुनि ने प्राण प्रतिष्ठा की
विधि का जब तक कि वहाँ विचार किया।
तब तक स्नान निवृत्ता सीता शिशु समेत
आ गईं शीघ्र आश्रम में वहाँ प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

ऋषि बोले—'सीते ! कैसे शिशु इस समय,
जिसको तुमने मेरे समीप ही रखा यहाँ।
सुनकर महर्षि की वाणी सीता ने तुरन्त
इस भाँति बताने का उपक्रम किया वहाँ ॥ ४५ ॥

सच है, मैंने इसको पहले था रखा यहाँ
आपके पास में ही, किन्तु मुनीश्वर ! तदनन्तर।
मार्ग में जा रही थी तब तक बानरियों ने
सहसा कटाक्ष या व्यंग्य किया था जब मुझ पर' ॥ ४६ ॥

जो वानरियों ने कहा उसे विस्तार सहित
सीता ने ऋषि से कहा सभी जैसे का तैसे।
यह कहकर उसको इस भाँति पुनः बोली सीता
इसलिए, उठा ले गयी पुत्र को मैं ऐसे ॥ ४७ ॥

ऐसा ही हो, पर यह आकृति भी है किसकी
इसकी रचना से आशय क्या आपका यहाँ ?
इस भाँति पूछने पर बोले मुनि विज्ञानी
उस समय जनक की कन्या से तत्काल वहाँ ॥ ४८ ॥

स्वसन्निधौ ते तनयं न पश्यं-
स्तत्कारणं ज्ञातुमशक्नुवंश्च
नूलो मयाऽसौ करणीय एवे-
त्यचिन्तयं त्वद्धितमीक्षमाणः ।। 49 ।।

भर्त्रा वियुक्ताऽसि ततोऽपि ते स्यात्
सुतेन वत्से! यदि विप्रयोगः ।
भवेदकस्मादतितीव्र एष
क्षते तव क्षार इव प्रहारः ।। 50 ।।

एवं विचिन्त्याकृतिमत्र पुत्रि!
पाषाणखण्डेऽहमलेखिषं भोः ।
इमां लिखित्वा च विचिन्तयामि
प्राणप्रतिष्ठाविधिमेव यावत् ।। 51 ।।

पश्याम्यहं त्वां तनयेन तावत्
समागतामत्र सह प्रियेण ।
प्राणप्रतिष्ठामधुना विचिन्त्या-
नपेक्षितामस्मि ततो विरक्तः ।। 52 ।।

नैवं भवांश्चिन्तयतां कथञ्चित्
प्राणप्रतिष्ठां विदधातु चास्याम् ।
बालोऽपरो येन भवेत्सहायः
सङ्क्रीडने मत्तनयस्य तावत् ।। 53 ।।

श्रुत्वा गिरो ऽस्या लिखिताकृतौ स
प्राणप्रतिष्ठां विधिना चकार ।

'जब अपने पास न देखा मैंने बालक को
अथवा न समझ पाया इसका कारण मैं जब।
कल्याण तुम्हारा हो जिससे यह सोच-समझ
नूतन शिशु की रचना कर डाली मैंने तब ॥ ४९ ॥

तुम पहले से ही पति वियोग में हो वत्से !
फिर, यदि होगा सुत का वियोग भी इस प्रकार।
अत्यन्त तीव्र होगी यह क्षति जो अकस्मात्
घाव पर घाव की भाँति लगेगा यह प्रहार ॥ ५० ॥

ऐसा विचार कर यह आकृति रच दी मैंने
पाषाण खण्ड पर बनी हुई आकृति यहाँ।
इसकी रचना करके ही सोच रहा हूँ मैं
जब तक कर दूँ विधि प्राण-प्रतिष्ठा हेतु यहाँ ॥ ५१ ॥

तब तक मैं देख रहा तुम भी सुत के समेत
प्रिय पुत्र सहित पहुँच गयी हो यहाँ।
अब प्राण-प्रतिष्ठा इपमें है इस समय व्यर्थ
तो यही सोचकर मैं विरक्त हो रहा यहाँ ॥ ५२ ॥

सीता बोली—'कुछ और सोचिए नहीं आप
अब प्राण-प्रतिष्ठा विधि संपन्न करें इसमें।
यह बालक जो दूसरा सहायक बन जाये,
खेलेगा मेरे सुत के साथ-साथ जिससे ॥ ५३ ॥

सुनकर सीता के वचन मुनीश्वर ने तत्क्षण
उस आकृति में प्राणों को प्रतिष्ठित सहज किया।

सम्पन्नमात्रे च विधौ कुमारः
समुत्थितोऽभूत् सुकुमार एकः ।। 54 ।।

सृष्टं हि तस्मै स्वतपोबलेन
लवेतिसञ्ज्ञां प्रददौ महर्षिः ।
आदाय तं च प्रययौ प्रतीता
सीता ऋषेः पादयुगं प्रणम्य ।। 55 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

उभावप्यर्भकौ सैषा लालयामास यत्नतः ।
पोषयामास तौ चापि महर्ष्याश्रमवर्तिनी ।। 56 ।।

सम्पन्न हुई जब विधि वह प्राण-प्रतिष्ठा की
तब सहसा एक कुमार तुरत ही उठा वहाँ ॥ ५४ ॥

जिसको ऋषि ने निज तप बल से रच दिया सहज
उसका लव ऐसा नामकरण सम्पन्न किया ।
उसको लाकर ऋषि के समीप सीता ने भी
ऋषि के चरणों में अतिश्रद्धा से नमन किया ॥ ५५ ॥

लालन-पालन दोनों सुत का
अत्यन्त यत्न के साथ हुआ ।
आश्रम-निवासिनी सीता के
द्वारा ही पोषण सहज हुआ ॥ ५६ ॥

द्वाविंशः सर्गः

(लवमङ्कुटरामसमागमोपाख्यानम्)

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

सुखेन वसतोस्तत्र बालयोरुभयोरपि ।
दश वर्षाण्यतीतानि वज्मृगस्याश्रमे ऋषेः ॥1॥

बालावपि च तौ सन्तौ स्वसत्त्वेनात्यरिच्यताम् ।
वीरातिवीरांस्तरुणान्दृढसंहननानपि ॥2॥

तावम्बामेकदाऽऽमन्त्र्य वने दूरं विनिर्गतौ ।
अपश्यतां च तत्रैकं द्यामारोहद् द्रुमोत्तमम् ॥3॥

सकलेऽपि वने तत्र नासीत्प्रांशुस्तथा द्रुमः ।
यथा सोऽदृश्यत स्प्रष्टुं द्यामिवासीत्समुद्यतः ॥4॥

परीक्षितुमनाः स्वस्य विशिखस्य गतिं तदा ।
महाद्रुममुं तावन्मङ्कुटो लक्ष्यमादधे ॥5॥

प्रजहार स वेगेन विशिखं लक्ष्यवेधिनम् ।
द्रुमः प्रहृतमात्रोऽसौ द्विधा येन व्यभज्यत ॥6॥

तादृशे तु महावृक्षे द्विधा भग्ने विलक्षणे ।
सांराविणमभूद्येन सर्वा पृथ्वी व्यकम्पत ॥7॥

द्वाविंश सर्ग

(लवमङ्कुटरामसभागमोपाख्यान)

सीता सुत लव-मंकुट नामक उस वन में रहते आये ।
वज्मृग-आश्रम में उन्होंने सुख से दश वर्ष बिताये ॥ १ ॥

यद्यपि वे बाल्यावस्था में फिर भी बलवान् अधिक दिखते ।
थे देह-शक्ति संपन्न सुदृढ़ अतिवीर तरुणवत वे लगते ॥ २ ॥

माँ की आज्ञा से एक बार वे गये विपिन में दूर कहीं ।
दोनों ने उच्च गगनचुम्बी देखा तरु उत्तम एक वहीं ॥ ३ ॥

सारे वन में एक भी नहीं था लम्बा तरु उसके जैसा
अम्बर को छूने को तत्पर दिख रहा वहाँ वह तरु ऐसा ॥ ४ ॥

निज बाणों की गति-परीक्षा का ध्यान उस समय आया था ।
मंकुट ने, इसीलिए, सहसा उस तरु को लक्ष्य बनाया था ॥ ५ ॥

अत्यंत वेग से जब उसने था लक्ष्यवेध कर दिया वहाँ ।
शर के आघात मात्र से तरु दो खण्ड हो गया तुरत वहाँ ॥ ६ ॥

दो खण्ड विलक्षण हुए सहज उस महावृक्ष के इस प्रकार ।
सारी पृथ्वी थी काँप उठी जब हुई तुमुल ध्वनि बार-बार ॥ ७ ॥

भयार्ताः प्राणिनश्चापि सर्वे चेरुरितस्ततः ।
शिश्रियुस्तेषु केचिच्च गहनाः कन्दरा गिरेः ।।8।।

द्रुमभञ्जननिर्घोषो घोषः प्रलयवातवत् ।
सर्वैरपि जनैस्त्रस्तैः शुश्रुवे पृथिवीगतैः ।।9।।

रामस्यापि स निर्घोषोऽयोध्यायां श्रोत्रशष्कुली ।
पस्पर्श येन सुतरामुद्विग्नात्मा बभूव सः ।।10।।

कोऽयमेतादृशं घोषं मयि नारायणे स्थिते ।
मर्त्यलोके जनयति मार्गणीयोऽस्ति स ध्रुवम् ।।11।।

इति बुद्ध्या सोऽश्वमेधमाहर्तुं यज्ञमुत्तमम् ।
विनिश्चिकाय येनासावन्वेष्टुं शक्नुयाज्जनम् ।।12।।

घोषोऽतिभीमो जनितो येन सृष्टिविदारणः ।
गिरिर्ज्वालामुख इव सहसा दीर्णतां गतः ।।13।।

एवं सङ्कल्प्य स कृती जात्यश्वं मुमुचे शुभम् ।
हिमवत्सर्वशुभ्राङ्गं पादवृन्देन चारुणम् ।।14।।

अन्धं तमोवत्कृष्णास्यं जवे वातसमं तथा ।
स्वेनैव लोके सदृशमश्वमेधाय पार्थिवः ।।15।।

आदिदेश हनूमन्तमनुगन्तुं स वाजिनम् ।
भरतेन समं चाथ शत्रुघ्नेन नृपोत्तमः ।।16।।

योऽस्य मार्गं निरुन्ध्याद् वाऽऽरोहेद्वैनं च यो जनः ।
दण्डभाक् स भवेत् सत्यं राजद्रोहीति घोषितः ।।17।।

भय से व्याकुल जो जीव सभी थे लगे भागने यहाँ-वहाँ ।
उनमें से कुछ ने ले ली शरण अत्यन्त घनी कन्दरा जहाँ ॥ ८ ॥

तरू-भंजन का निर्घोष घोष था प्रलय काल की वायु सदृश ।
हो गये सभी भयभीत अधिक जिसने भी उसका किया श्रवण ॥ ९ ॥

राम ने भी अयोध्या में उस भीषण ध्वनि का किया श्रवण ।
जिसको सुनते ही सहजभाव, उद्विग्न हो उठे थे तत्क्षण ॥ १० ॥

मुझ नारायण के रहते ही यह भीषण ध्वनि किसलिए यहाँ ।
इस मृत्युलोक में इस ध्वनि का है पता लगाना मुझे यहाँ ॥ ११ ॥

यह सोच उन्होंने अश्वमेध उत्तम यज्ञ का सुविचार किया ।
जिससे यह पता लगाने की विधि का उनको विश्वास हुआ ॥ १२ ॥

आ रही कहाँ से भीषण ध्वनि सृष्टि में मचाती उथल-पुथल ।
लगती थी ज्वालामुखी सदृश ऐसी सबको कर रही विकल ॥ १३ ॥

करके संकल्प उन्होंने तब छोड़ा शुभ वेला मध्य अश्व ।
हिमगिरि से शुभ्र अंग जिसके थे लाल रंग के चारु चरण ॥ १४ ॥

मुख श्याम अन्धतामिस्र सदृश चाल भी वायु के ही समान ।
वस्तुतः यज्ञ का सुघर अश्व लोक में दिखा अपने समान ॥ १५ ॥

अश्व के साथ ही हनूमान् को जाने का आदेश हुआ ।
राम ने भरत-शत्रुघ्न को भी साथ में उन्हीं के भेज दिया ॥ १६ ॥

'रोकेगा इसका मार्ग या कि जो भी इस पर चढ़ जायेगा ।
वह निश्चित ही दण्डित होगा राजद्रोही कहलायेगा ॥ १७ ॥

इति लेखं लेखयित्वा ग्रीवायां विनिबध्य च ।
चरणाय यथाकामं तमश्वं व्यसृजत्प्रभुः ।।18।।

क्रममाणः क्रमेणासावश्वोत्तम उपागतः ।
तमेव काननोद्देशं यत्रावर्तत मङ्कुटः ।।19।।

सङ्क्रीडमानः स्वभ्रात्रा लवेन परया मुदा ।
विचरन्तं दिव्यमश्वमक्षिलक्षीचकार सः ।।20।।

तद्रूपेण समाकृष्टः समया तं समाययौ ।
आयातमात्रो ग्रीवायां लम्बमानं ददर्श सः ।।21।।

लेखमस्य, यमालोक्य कस्यायमिति वीर्यवान् ।
नैवाबुद्ध तथाऽप्यत्र कर्तव्यं प्रत्यपद्यत ।।22।।

अहो! दृप्ताक्षरवचोविन्यासो यस्य कस्यचित् ।
शान्तं कोपानलं तावद् भूयो ज्वलयतीव मे ।।23।।

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
दृप्तस्येयं मया नैव वाक्सोढव्या कदाचन ।।24।।

नहि निःक्षत्रिया पृथ्वी गीरेवं यत्समादृता ।
यो वा को वा भवेदेष दर्शयिष्यामि पौरुषम् ।।25।।

इति निश्चित्य बालोऽसावतिसाहसिको हसन् ।
सत्रा लवेन स्वभ्रात्रा रुरोहाश्वं मुदा युतः ।।26।।

अवाहयच्च वेगेन वनमध्ये स वेगवान् ।
अक्षमिष्ट हनूमांस्तु तत्कृत्यं नो कथञ्चन ।।27।।

इस भाँति लेख उल्लिखित कर अश्व के कण्ठ में बाँध दिया।
स्वेच्छा से उसे विचरने को श्रीरामभद्र ने छोड़ दिया ॥ १८ ॥

अश्व भी भ्रमण करता क्रमशः था पहुँच गया उस समय वहाँ।
उस वन प्रदेश में अकस्मात् मंकुट दिखलायी पड़ा जहाँ ॥ १९ ॥

क्रीडा-निमग्न निज भ्राता लव के साथ विपिन में मंकुट था।
घूमते हुए उस दिव्य अश्व को उसने सहसा देखा था ॥ २० ॥

वे दोनों लख उसका स्वरूप आ गये उसी के निकट सहज।
आते ही उसकी ग्रीवा में देखा था लटकता लेख सहज ॥ २१ ॥

देखकर लेख वह वीर्यवान् यह किसका है कुछ पता नहीं।
कुछ समझ न पाया अस्तु यहाँ जो करना है अब वही सही ॥ २२ ॥

जिस किसी व्यक्ति ने लिखा अहो ! यह दृप्ताक्षर विन्यास यहाँ।
इससे कोपानल भड़क रहा तब तक करना है शान्त यहाँ ॥ २३ ॥

राक्षसी वृत्ति की वाणी यह जो अहंभाव से भरी यहीं।
जो नहीं कदाचन सहन योग्य यह अहंकार से भरी हुई ॥ २४ ॥

यह पृथ्वी क्षत्रियहीन नहीं जिसमें आदर इस वाणी का।
जो कोई भी होगा उसको दूँगा परिचय निज पौरुष का ॥ २५ ॥

ऐसा निश्चय कर बालक वह हँस रहा जो कि साहसी अधिक।
अश्व की पीठ पर लव के संग चढ़ गया बेधड़क ही मंकुट ॥ २६ ॥

दौड़ाया अश्व तीव्र गति से वनमध्य इधर से उधर वहीं।
उनका यह कृत्य कपीश वहाँ इस भाँति सहज सह सके नहीं ॥ २७ ॥

अनौचित्यकृता बाललीलाऽपि न भवेत्सताम् ।
क्षम्या, तत्प्रतिकूलत्वे त्वनिष्टं सम्भवेद् बहु ।।28।।

अहो धृष्ट ! कथं नाम रामभद्रतुरङ्गमम् ।
मातृक्रोडमिवारूढो वाहयस्येव वेगतः ।।29।।

अवतरास्मात्त्वरितं यदि प्राणाः प्रियास्तव ।
दुश्चेष्टां बालकस्यापि न क्षमन्ते महाजनाः ।।30।।

दृष्ट्वेमं प्रतिरोधार्थमुद्यतं मङ्कुटः कपिम् ।
ससर्ज बाणं निशितं निःसञ्ज्ञं यश्चकार तम् ।।31।।

सञ्ज्ञां लब्ध्वा कपी रूपं बालवत्स्वं चकार सः ।
अभ्यधावच्च वेगेन जिघांसुर्भ्रातरावुभौ ।।32।।

पुनरप्यभवत्तस्य पूर्ववद् दुर्गतिः कपेः ।
मङ्कुटेन स वीरेण हतप्रायत्वमापितः ।।33।।

तदैव दृष्टिः पतिता लवस्यास्मिन् विलक्षणे ।
कपौ स दृष्टवांश्चैनं वसानं वाससी शुभे ।।34।।

वसानं वाससी दृष्ट्वा तं स विस्मयमाययौ ।
तथैव मङ्कुटश्चापि विस्मयं परमागतः ।।35।।

कपिरेष न हन्तव्य इति बुद्धिं समाश्रितौ ।
सन्दानितं विदधतुस्तं तौ शूरशिरोमणी ।।36।।

स्वस्वामिनमृते नैनं शक्तो मोचयितुं जनः ।
इति तौ चक्रतुस्तत्र व्यवस्थां सुदृढां कपेः ।।37।।

बालक के अनौचित्य कर्म सज्जन सह सकते नहीं कभी।
यदि क्षमा किया तो उल्टे ही हो जाता अधिक अनिष्ट तभी ॥ २८ ॥

हनुमत् बोले—'रे धृष्ट! भला क्यों रामभद्र के घोड़े को।
माँ की गोदी की भाँति चढ़े वेग से चलाते घोड़े को' ॥ २९ ॥

यदि प्राण तुम्हें प्रिय लगते हों तो उतरो घोड़े से तुरन्त।
बालक की दुश्चेष्टाओं को सज्जन न क्षमा करते परन्तु ॥ ३० ॥

प्रतिरोध देखकर इस प्रकार मंकुट तत्काल सतर्क हुआ।
कपि पर बाण का प्रहार किया जिससे वह मूर्च्छित वहाँ हुआ ॥ ३१ ॥

जब होश हुआ तो कपि ने भी बालक की भाँति स्वरूप किया।
दोनों भाई के वध हितार्थ वह दौड़ पड़े वेग से वहाँ ॥ ३२ ॥

पहले की भाँति पुन: कपि भी अतिशय दुर्गति को प्राप्त हुए।
उस महावीर मंकुट द्वारा हनुमान् सहज मृतप्राय भए ॥ ३३ ॥

उस समय पड़ी लव की दृष्टि उस परम विलक्षण कपि-ऊपर।
उसने देखा कपि शुभ वस्त्र था पहने हुए जो शरीर-ऊपर ॥ ३४ ॥

उन वस्त्रों में देखकर उसे लव को भी अचरज अधिक हुआ।
वैसे ही मंकुट को भी तो देखकर ही विस्मय वहाँ हुआ ॥ ३५ ॥

यह कपि हत्या के योग्य नहीं। दोनों ने यही विचार किया।
इसलिए ही वीरशिरोमणि ने तत्काल उसे था बाँध दिया ॥ ३६ ॥

स्वामी के बिना उसे कोई इस भाँति मुक्त कर सके नहीं।
ऐसा विचार कर दोनों ने दृढ़ता से बाँधा उसे वहीं ॥ ३७ ॥

सञ्ज्ञाहीनः कपिरभूत् प्रापितो बन्धनं यदा ।
सञ्ज्ञां लब्ध्वा तु सुतरामसकौ समतप्यत ।। 38 ।।

दौर्भाग्यस्य न मे सीमा सर्वेषां पश्यतामहम् ।
बालाभ्यां गमितस्तावद् दयनीयामिमां दशाम् ।। 39 ।।

सुतः प्रभञ्जनस्याहं प्रभञ्जनसमो जवे ।
वज्राङ्गश्च बली चापि बालाभ्यामेव निर्जितः ।। 40 ।।

सामान्यकपिवच्चापि बद्धः शोचामि, नैव च ।
शक्तोऽस्मि प्रतिविधातुं विधातुः शासनादहम् ।। 41 ।।

चञ्चलाभ्यामर्भकाभ्यां दृढं बद्धोऽस्मि रज्जुभिः ।
किं मां भरतशत्रुघ्नौ न मोचयितुमर्हतः ।। 42 ।।

इति दुःखभराक्रान्तहृदयः कपिपुङ्गवः ।
तदा भरतशत्रुघ्नावुपसन्नोऽतिलज्जितः ।। 43 ।।

तौ स सम्प्रार्थयाञ्चक्रे स्वबन्धस्य विमोचनम् ।
न शेकतुश्च तत्रैतौ प्रयत्नं परमास्थितौ ।। 44 ।।

आवां महारथौ नाम कथं छेत्तुं न शक्नुवः ।
रज्जुजालं बालकृतमिति तौ विस्मयं गतौ ।। 45 ।।

तत्प्रयत्नं समालोक्य विफलं कपिपुङ्गवः ।
करुणां च दशां स्वस्य नैराश्यं परमं गतः ।। 46 ।।

किं मयाऽत्र प्रकर्तव्यं वर्तितव्यं कथञ्च वा ।
विपदम्भोधिमग्नस्य तरिः को वा भवेन्मम ।। 47 ।।

बन्धन में पड़कर हनूमान् तब सहसा संज्ञाहीन हुए।
जब होश हुआ तो मन ही मन वे तो अतिशय सन्तप्त हुआ ॥ ३८ ॥

सबके समक्ष मेरी दुर्गति की सीमा किञ्चित् नहीं रही।
इन दोनों बच्चों के हाथों दयनीय दशा भी यहाँ हुई ॥ ३९ ॥

मैं पवनपुत्र हूँ साथ-साथ गति भी मेरी वायु के सदृश।
बज्रांग बली होकर भी तो बच्चों के द्वारा मैं निर्जित ॥ ४० ॥

बन्धन में मैं हूँ शोकग्रस्त साधारण कपि की भाँति यहीं।
विधि ही विपरीत हुआ अब तो मेरा कोई उपचार नहीं ॥ ४१ ॥

चंचल बच्चों के द्वारा मैं रस्सी के दृढ़ बंध में यहीं।
क्या भरत और शत्रुघ्न मुझे कर सकते सहसा मुक्त नहीं ॥ ४२ ॥

इस भाँति दुःख से व्यथित हृदय कपि महावीर अतिवीर्यवान्।
उन भरत शत्रुघ्न के समीप पहुँचे लज्जित हो हनूमान् ॥ ४३ ॥

उनसे प्रार्थना किया कपि ने बंधन विमुक्ति के लिए वहाँ।
दोनों ने किया प्रयत्न किन्तु वे सफल नहीं हो सके वहाँ ॥ ४४ ॥

हम दोनों यद्यपि महारथी क्यों बंधन काट न सके सहज।
बच्चों से बाँधी रस्सी यह विस्मय उपजाती यहाँ सहज ॥ ४५ ॥

उनका प्रयास हो गया विफल यह देख स्वयं ही हनूमान्।
अपनी यह सकरुण दशा देख अतिशय निराश थे हनूमान् ॥ ४६ ॥

क्या करना अब चाहिए मुझे अथवा कैसे अब रहूँ यहाँ।
इस विपत्-सिन्धु के पार हेतु नौका बन सकता कौन यहाँ ॥ ४७ ॥

अथवा शरणं यामि राममेव प्रभुं द्रुतम् ।
शरणं स शरण्यानां स एव परमा गतिः ।। 48 ।।

परं कथमहं यायां दशामेतादृशीं गतः ।
सञ्चरेय पथा केन विधिर्निष्करुणो मयि ।। 49 ।।

यदि व्योमपथेनाहं सञ्चरेय तदा ध्रुवम् ।
देवा उपहसिष्यन्ति दृष्ट्वैतादृग्दशं नु माम् ।। 50 ।।

अयोध्यां न व्रजाम्येव तर्हि नैवास्ति मे गतिः ।
रज्जुसन्दानितेनैव मया कष्टश्रितेन च ।। 51 ।।

कृत्स्नमायुर्भवेद् याप्यमहो ! याप्या मम स्थितिः ।
गच्छामि वा नवेत्यत्र निर्णयः कठिनोऽधुना ।। 52 ।।

इति सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य नोपायं समवेक्ष्य च ।
अयोध्यागमने तावत्स्वां मतिं विदधे कपिः ।। 53 ।।

गच्छन् विहायसा चापि क्षणैः कतिपयैः प्रभुम् ।
उपेयिवान् यथावृत्तं सर्वं प्रणिजगाद च ।। 54 ।।

श्रुत्वा दृष्ट्वा च तत्सर्वं प्रभुश्चुक्रोध भूरिशः ।
भक्तावमाननां नैव सहन्ते भक्तवत्सलाः ।। 55 ।।

अन्यत्सर्वं विहायासौ कपिना सह वीर्यवान् ।
तत्क्षणं निर्ययौ तावद्वनोद्देशं रघूद्वहः ।। 56 ।।

अकालहीनं च प्राप तद्वनं यत्र बालकौ ।
सङ्क्रीडमानावन्योन्यमासातां परया मुदा ।। 57 ।।

अथवा राम की शरण में ही जाऊँ मैं इस क्षण यथाशीघ्र ।
वे हैं अनाथ के शरणदाता रक्षा करते शीघ्रातिशीघ्र ॥ ४८ ॥

अथवा ऐसी दुर्दशामध्य जाऊँ उन तक मैं किस प्रकार ।
पथ पर किस भाँति चलूँ विधि भी निष्करुण है मुझ पर इस प्रकार ॥ ४९ ॥

आकाश मार्ग से जाऊँ यदि तो जा सकता हूँ निःसंशय ।
पर मुझे देख इस भाँति वहाँ देवता हसेंगे, यह निश्चय ॥ ५० ॥

यदि नहीं अयोध्या जाऊँ तो मेरा दिखता उद्धार नहीं ।
मैं बँधा हुआ हूँ रस्सी से कष्ट से त्रस्त हो रहा यहीं ॥ ५१ ॥

दुर्गति को प्राप्त अहो ! मेरी ऐसी स्थिति हो गयी यहाँ ।
इस समय कठिन निर्णय करना जाऊँ अथवा मैं रहूँ यहाँ ॥ ५२ ॥

था दिखा न कोई भी उपाय कपि यही सोचता बार-बार ।
अन्ततः अयोध्या जाने का कर लिया उस समय ही विचार ॥ ५३ ॥

आकाश मार्ग से क्षण भर में कपि जा पहुँचा प्रभु के समीप ।
थी जैसी घटना घटी वहाँ पूरी कह दी थी वह सटीक ॥ ५४ ॥

सब कुछ सुनकर देखकर तथा प्रभु अतिशय क्रोधित हुए वहीं ।
अपमान कभी निज भक्तों का भक्तों के वत्सल सहे नहीं ॥ ५५ ॥

वे अन्य कार्यक्रम त्याग सभी कपि के संग तत्क्षण निकल गये ।
श्री रामचन्द्र जो वीर्यवान् उस वन प्रदेश में पहुँच गये ॥ ५६ ॥

क्षण भर में आये उस वन में दोनों बालक थे रहे जहाँ ।
जो आपस में थे खेल रहे आनन्द मनाते हुए वहाँ ॥ ५७ ॥

परुषाक्षरया वाचा दण्डनीयाविति स्मरन् ।
स तौ निर्भर्त्सयामास मा चापलमिति ब्रुवन् ।।58।।

तस्य निर्भर्त्सनं तावत्तयोर्बालकयोस्तदा ।
क्रोधाग्निं दीपयामास घृतधारेव सन्तता ।।59।।

सिंहनादस्तयोरासीत्सिंहशावकयोरिव ।
गजेन्द्रालोकने तावन्नृपेन्द्रालोकने सति ।।60।।

आस्फालयन् घोरघोषां धनुर्ज्यां मङ्कुटो मुहुः ।
अवसृजंश्च फूत्कारं पदा स्पृष्ट इवोरगः ।।61।।

प्रज्वलत्क्रोधताम्राक्षो बालसूर्य इवापरः ।
ओजस्विनीं तदा तत्र गिरमेवं समाददे ।।62।।

न दोष आवयोरेष यदश्वो भवतामयम् ।
आवाभ्यां निगृहीतोऽत्र वाहितश्च वनान्तरम् ।।63।।

दोषस्तु भवतामेव यल्लेखो दृप्तभावतः ।
अतिसृष्टो भवद्भिर्यं मादृशो विषहेत नो ।।64।।

नहि निःक्षत्रिया राजन्! पृथिवी सचराचरा ।
अहमत्र प्रतीरोधं भवतां कर्तुमुद्यतः ।।65।।

यद्यस्ति शक्तिर्भवतां योद्धव्यं वा मया सह ।
निवर्तितव्यं देशं वा स्वं प्रहीणपराक्रमैः ।।66।।

न मेघगर्जनं सह्यं शरभाणां कथञ्चन ।
युद्धं मे दीयतां राजन्नहं शरभशावकः ।।67।।

यह सोच कि ये हैं दण्डयोग्य प्रभु ने उनकी भर्त्सना की ।
मत चंचलता तुम करो यहाँ वे भी कठोर बोले वाणी ॥ ५८ ॥

भर्त्सना राम के मुख से सुन उन दोनों का बढ़ गया क्रोध ।
ज्यों घृत की धारा से पावक बढ़ जाता, वैसे बढ़ा क्रोध ॥ ५९ ॥

सिंह के शावक के समान उन दोनों ने सिंहनाद किया ।
जैसे गजेन्द्र को देख करे वैसे नृपेन्द्र को देख किया ॥ ६० ॥

तब मंकुट ने धीरे-धीरे प्रत्यंचा से टंकार है की ।
पाँव से धरा पर धरी चाप सूर्य की भाँति फूत्कार की । ६१ ॥

भड़की क्रोधाग्नि, लाल आँखें जैसे वे बालक सूर्य अपर ।
उस समय कह उठे वे दोनों अत्यन्त ओज से भरे वचन ॥ ६२ ॥

'है दोष न यहाँ हमारा कुछ आपके अश्व को पकड़ लिया !
तदनन्तर उसे अन्य वन में हम दोनों ने है भगा दिया ॥ ६३ ॥

दोष तो आपका है इसमें जो अहं भाव में लेख लिखा ।
हम उसे सहन कर सके नहीं जो कार्य आपने यहाँ किया ॥ ६४ ॥

हे राजन् ! सचराचरा धरा क्षत्रिय वीरों से हीन नहीं ।
इसलिए, आपका भी विरोध करने को तत्पर हुए यहीं ॥ ६५ ॥

यदि शक्ति आपके अन्दर हो लड़ने की मेरे साथ यहाँ ।
तो लड़ो अन्यथा लौट जाओ निज देश, हीनबल हुए यहाँ ॥ ६६ ॥

सह सकते नहीं मेघ-गर्जन वे शरभ सहज ही तो कदापि ।
राजन् ! दीजिए युद्ध मुझको मैं हूँ शरभ-शावक तथापि ॥ ६७ ॥

इत्युक्त्वा स शरं घोरं रामप्रभुमवासृजत् ।
जाज्वल्यमानः क्रोधेन स चापि प्राहिणोच्छरम् ।।68।।

एतावुभौ शरौ हन्त! लक्ष्यभ्रष्टौ बभूवतुः ।
परस्परेण संश्लिष्य पेततुश्च महीतले ।।69।।

नास्वादितचरं पुत्ररक्तं रामशरेण हि ।
न चैव स्वपितू रक्तं मङ्कुटस्य शरेण वा ।।70।।

न केवलमिदं तावत्तत्र चित्रमिवाभवत् ।
अपरं चापि सुतरां विलक्षणमभूत्तदा ।।71।।

मङ्कुटस्य प्रवीरस्य सायको निशितः क्षणात् ।
परिवृत्तः पुष्पराशौ रामपादावपूजयत् ।।72।।

तद् दृष्ट्वाऽत्यद्भुतं दृश्यं सुतरां रोमहर्षणम् ।
बालस्य विषये ज्ञातुं समैहत रघूत्तमः ।।73।।

तमन्वयुङ्क्त बालं स कस्य त्वमिति मां वद ।
न पृथग्जनवद् भासि सर्वं तेऽस्ति विलक्षणम् ।।74।।

तमूचे मङ्कुटो रामं सीताया अस्म्यहं सुतः ।
वज्मृगस्याश्रमे पुण्ये निवसामि तया सह ।।75।।

तच्छ्रुत्वा रामभद्रस्य हृदये न ममुर्मुदः ।
असम्भावितसम्प्राप्तिः कस्य मोदाय नो भवेत् ।।76।।

ममैवायं सुत इति तं स द्रुतमुपागमत् ।
प्रहर्षनिर्भरश्चापि समालिङ्गत्पुनः पुनः ।।77।।

ऐसा कह उसने तीव्र बाण राघव के ऊपर चला दिया।
क्रोध से ज्वलित राघव ने भी उस पर था बाण प्रहार किया ॥ ६८ ॥

लक्ष्य से भ्रष्ट हो गये वहाँ उस समय अचानक दोनों शर।
आपस में टकराकर दोनों गिर पड़े वहीं वसुधा तल पर ॥ ६९ ॥

रामबाण ने पुत्र-रक्त का आस्वादन था किया नहीं।
अथवा मंकुट के शर ने भी स्वपिता-रक्त था पिया नहीं ॥ ७० ॥

उस समय वहाँ यह केवल ऐसी विचित्रता नहीं हुई।
इसके अतिरिक्त विलक्षणता उस समय वहाँ पर और हुई ॥ ७१ ॥

मंकुट प्रवीर के तीव्र बाण उस समय चतुर्दिक् बिखर गये।
पुष्प-राशि की भाँति राम के चरणों को पूजने लगे ॥ ७२ ॥

यह अद्‌भुत दृश्य देखते ही उस समय राम थे रोमाञ्चित।
बालक के परिचय ज्ञान हेतु रघुनन्दन दिखते थे इच्छुक ॥ ७३ ॥

पूछा—'तुम किसके पुत्र वत्स' मुझको बतलाओ साफ बात।
लग रहे न तुम सामान्य तुल्य दिख रहे विलक्षण क्योंकि तात ॥ ७४ ॥

मंकुट ने कहा राम से तब—मैं हूँ सीता का पुत्र आर्य !
वज्मृग-ऋषि के आश्रम में मैं रहता हूँ माँ के साथ आर्य ! ॥ ७५ ॥

यह सुनकर राघव-हृदय मध्य आनन्द असीमित उठा तुरत।
जिनको न असंभावित प्राप्ति आनन्द दे सकी कभी सहज ॥ ७६ ॥

यह मेरा सुत है यही देख वे गये निकट ही इस प्रकार।
अत्यन्त मोद में मंकुट का आलिंगन करते बार-बार ॥ ७७ ॥

स्वेन साम्यं च तस्यासीत् प्रकटं सूक्ष्मदर्शने ।
तच्च भूयो मुदं तस्याजनयद्रोमहर्षिणीम् ॥78॥

शिरस्यजिघ्रदेनं स हर्षाश्रुभरितेक्षणः ।
सविग्रहं स्थितं पार्श्वे मनोरथमिवात्मनः ॥79॥

सीताऽपि जीवतीत्यस्य भूयसीं मुदमावहत् ।
सानुषङ्गाणि सन्त्येव कल्याणानि महीतले ॥80॥

पुत्रस्य लाभेन समं पत्नीलाभोऽपि चेद् भवेत् ।
सकृदेवार्पयेद्धाता द्वे फले अमृतोपमे ॥81॥

किमतः परमिष्टं स्यात्प्रियं वा किमतः परम् ।
ममान्त इव दुःखानामयं बाल उपस्थितः ॥82॥

किन्तु सीता प्रमीतेति लक्ष्मणः प्रोक्तवान् पुरा ।
सा जीवतीति सम्भाव्यं कथमेतन्नु सम्प्रति ॥83॥

स्थितिं सम्यक् विवेक्तुं स पृष्टवान् लक्ष्मणं तदा ।
यथास्थिति समाख्याहि किं न सीता हता त्वया ॥84॥

न्यक्षेण लक्ष्मणः प्राह सर्वं वृत्तं पुरातनम् ।
आकर्ण्य रामचन्द्रो यत्परं सन्तोषमाययौ ॥85॥

त्वया सम्यक् कृतं तात! त्वं ममानन्दवर्धनः ।
इत्युक्त्वावरजं भूयो भूयश्च परिषस्वजे ॥86॥

ततः स मङ्कुटं प्राह स्नेहसिक्तेन चेतसा ।
वत्स! द्रष्टुं त्वदीयाम्बामहमस्मि समुत्सुकः ॥87॥

देखकर निकट से हुआ प्रकट मंकुट था उनके ही समान।
इससे वे हुए रोम हर्षित आनन्द हृदय में था महान् ॥ ७८ ॥

नेत्र में छलकते हर्ष-अश्रु शिर का चुम्बन कर लिया सहज।
लगता था देह धार करके पास ही मनोरथ खड़ा सहज ॥ ७९ ॥

सीता जीवित है इसे समझ उनको अतिशय आनन्द हुआ।
कल्याण यान के सदृश सदा वसुधा तल पर घूमता यहाँ ॥ ८० ॥

पुत्र के लाभ के साथ-साथ पत्नी-प्राप्ति भी हो रही सहज।
विधि ने भी सहसा एक बार दो अमृत-फल दे दिये सहज ॥ ८१ ॥

इससे है बड़ा अभीष्ट कहाँ अथवा इससे प्रिय अन्य कहाँ ?
मेरे दुःख का यह अन्त रूप हो गया उपस्थित बाल यहाँ ॥ ८२ ॥

पर, लक्ष्मण ने तो पहले ही था कहा कि सीता मृता गता।
वह जीवित है, कैसे संभव ? इस समय यहाँ इस भाँति तथा ॥ ८३ ॥

स्थिति विवेचना हेतु राम पूछते लखन से बात वहीं।
'स्पष्ट यथास्थिति कह दो क्या सचमुच सीता मरी नहीं' ॥ ८४ ॥

लक्ष्मण ने राघव से सारा वृत्तान्त बताया साफ वहाँ।
सुनकर उन रामचन्द्र को भी उस समय परम सन्तोष हुआ ॥ ८५ ॥

यह अच्छा किया तात ! तुमने, मेरा आनन्द भी बढ़ा दिया।
यह कह लक्ष्मण का बार-बार आलिंगन प्रभु ने वहाँ किया ॥ ८६ ॥

फिर उस मंकुट से स्नेहयुक्त वाणी में बोले राम सहज।
'हे वत्स ! तुम्हारी माता के दर्शन का मैं भी हूँ इच्छुक' ॥ ८७ ॥

तेनोमिति सति प्रोक्ते सह तेन लवेन च ।
वज्मृगस्याश्रममृषेः सद्यः स प्रस्थितोऽभवत् ।।88।।

अल्पीयसैव कालेन तं च प्राप्तोऽभवत्प्रभुः ।
समङ्कुटलवश्चापि समगंस्त स सीतया ।।89।।

तत्र वृत्तं यथावृत्तमर्भकौ तामवोचताम् ।
रामेण सह युद्धं च तेन सङ्गममेव च ।।90।।

(उपजातिवृत्तम्)

अबोधयेतां निखिलेन वृत्तं
स्वां मातरं तौ लवमङ्कुटौ द्राक् ।
रामेण युद्धं च समागमं च
प्राप्तिं वनात् पुण्यतमाश्रमं च ।।91।।

'ठीक है' कहा मंकुट ने तब लव को भी अपने साथ लिया।
वज्मृग ऋषि के आश्रम के प्रति राम के साथ प्रस्थान किया ॥ ८८ ॥

वे अल्पकाल में रामभद्र ऋषि के आश्रम में पहुँच गये।
लव-मंकुट के ही साथ-साथ सीता-दर्शन थे प्राप्त किये ॥ ८९ ॥

उन दोनों ने अपनी माँ से सारा वृत्तान्त बताया था।
किस भाँति राम से युद्ध-मिलन सब कुछ तो उन्हें सुनाया था ॥ ९० ॥

अपनी माँ से लव मंकुट ने
तत्काल सारा वृत्तान्त कहा।
राम से युद्ध फिर मिलन तथा
पुण्याश्रम की प्राप्ति भी कहा ॥ ९१ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

(सीतापातालप्रवेशोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

दृष्ट्वा तु रामं समुपस्थितं स्वे
साक्षात्कुटीरे जनकात्मजा सा ।
स्थातुं न शक्ता न च वा प्रयातुं
गता तरङ्गेष्विव राजहंसी ।।1।।

चिराददृष्टं प्रविलोक्य राम-
मुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ।
पपौ ययौ नैव च तृप्तिमेषा
निमेषमात्रं च ततोऽन्यथाऽभूत् ।।2।।

सोऽयं जनो येन पुराऽहमासं
हन्तुं प्रदिष्टा ननु मन्ददिष्टा ।
वर्षाणि तावद्दश यापितानि
मयाऽति कष्टश्रितया वनेऽस्मिन् ।।3।।

रोषात् पुरा संशयशूकदष्टो
वस्तुस्थितिं योऽनवबुध्य सम्यक् ।
वाचं मदीयामवधीर्य शुद्धि-
प्रख्यापिकां मे वधमादिदेश ।।4।।

त्रयोविंश सर्ग

(सीतापातालप्रवेशोपाख्यान)

देखकर उपस्थित रामचन्द्र को साक्षात्
उन जनकदुलारी ने निज कुटिया-मध्य स्वयम्।
जा रही लहर के साथ राजहंसी समान
वह रुक न सकी अथवा न कहीं जा सकी स्वयम् ॥ १ ॥

देखा था बहुत दिनों पर राघव को लखकर
आँखों से उनके शुभ दर्शन का पान किया।
वे नहीं तृप्त हो सकीं, किन्तु क्षणमात्रमेव
उनके मन में अन्यथा भाव ने जन्म लिया ॥ २ ॥

ये वही व्यक्ति हैं जिनके आदेशों के द्वारा
कुछ समय पूर्व मेरी हत्या का था प्रयास।
जिससे अब तक दशवर्ष बिताये गये यहाँ
वन में मैंने अति कष्ट सहे थे अनायास ॥ ३ ॥

कुछ समय पूर्व सन्देह किया मेरे ऊपर
वस्तुस्थिति का जब नहीं उन्होंने बोध किया।
निर्दोष रही, पर मेरी बात न सुनी गयी
क्रोधित हो मेरी हत्या का आदेश दिया ॥ ४ ॥

तेनास्ति मे किं करणीयमद्य
शङ्कालुना क्रूरतमेन चापि ।
कठोरतां मां प्रति यो बिभर्त्ति
न स्यामहं तं प्रति किं कठोरा ? ।।5।।

श्मशानवज्जीवितमद्य मेऽस्ति
नानन्दलेशोऽपि विभाव्यतेऽत्र ।
ऋषेः कुटीरे निवसामि कष्टात्
तपस्विनीवाद्य तपस्विनी भोः ।।6।।

तस्याः स्त्रियाः सत्यमजीवनिः स्याद्
भर्त्रैव यस्या वध इष्यतेऽत्र ।
दण्डं प्रयुक्ताऽस्मि विनाऽपराधं
किमस्य राज्ञः सदृशं कुलस्य? ।।7।।

कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टितां मां
विधाय किं नास्य मनोऽतितृप्तम् ।
कष्टायितुं मे प्रियपुत्रकौ यत्
प्राप्तोऽयमद्यास्ति कुटीरकं मे? ।।8।।

इत्यादिनानाकुवितर्कवीचि-
प्रेङ्खोलिता सा शफरीव भूयः ।
विदेहपुत्री क्षणमप्यवाप
नैव क्षणं मौनमुपाश्रयच्च ।।9।।

रामोऽभिरामं मुखचन्द्रमस्या
दुःखाम्बुदाच्छन्नमभिप्रपश्यन् ।

उनसे इस समय मुझे करना है क्या जब कि
क्रूरता भरी शंका भी यों कर ली मुझ पर।
जिसमें मेरे प्रति कठोरता का भाव भरा
मैं भी कठोर क्यों नहीं बन सकूँगी उस पर ॥ ५ ॥

मेरा जीवन भी आज यहाँ श्मशान सदृश
है नहीं दिख रहा मुझे यहाँ आनन्द लेश।
ऋषि की कुटिया में है निवास बस कष्ट मध्य
बन गयी तपस्विनी है मेरा तापसी वेष ॥ ६ ॥

सच है, जिस नारी का पति उसका वध चाहे
उस नारी का जीवन सचमुच ही व्यर्थ यहाँ।
अपराध बिना ही मुझको दण्डित किया गया
क्या उस राजा के उत्तम कुल की प्रथा वहाँ ॥ ७ ॥

कष्टों से तथा अनिष्टों से मैं घिरी हुई
इससे क्या उनके मानस में है तृप्ति नहीं।
जो अब मेरे पुत्रों को पीड़ित करने को
वे स्वयं आ गये मेरी कुटिया मध्य नहीं ॥ ८ ॥

इत्यादि विविध कुवितर्क-तरंगों में सीता
शफरी की भाँति बही जाती ही रही सहज।
क्षण भर के लिए न उन्हें शान्ति मिल पाती थी
अन्ततः उस समय मौन भाव में हुई सहज ॥ ९ ॥

वैदेही का मुखचन्द्र दुःखों के बादल में
था ढका हुआ वे राम उसे ही देख रहे।

पुनः पुनर्नैव जगाम तृप्ति-
मुदन्वितः स्वादुतमाऽम्बुनेव ।। 10 ।।

सङ्क्लिष्टकान्त्यस्ति तु यद्यपीदं
तथापि लावण्यमयी न छाया ।
विमुञ्चतीदं नयनाभिरामं
मोदं मुखं सिञ्चति चान्तरङ्गे ।। 11 ।।

स स्वं परां ग्लानिमुपेयिवान् सन्
क्षमापयामास विदेहजायाः ।
विगर्हयामास पुनः पुनश्च
मतिभ्रमं स्वं विधिवैपरीत्यात् ।। 12 ।।

अग्नौ विशुद्धामपि यत्समक्ष-
मदण्डयं चित्रविलोकनेन ।
वध्येति चामंसि विदन्न तथ्यं
तदर्थमत्यन्तविलज्जितोऽस्मि ।। 13 ।।

तन्मेऽपराधं सुमुखि! क्षमस्व
क्षमाधना त्वं सुतरां क्षमेव ।
लोकेऽत्र को नाम न नापराध्येद्
दोषाः प्रकृत्या प्रकटीभवन्ति ।। 14 ।।

इत्येवमुक्त्वाऽतितरां विलक्षो
विशन्निवाङ्गानि स लज्जमानः ।
प्रसादनार्थं जनकात्मजायाः
पस्पर्श पादावपराधचण्ड्याः ।। 15 ।।

अत्यन्त पिपासाकुल की भाँति न हुई तृप्ति
यद्यपि सीता को बार-बार वे देख रहे ॥ १० ॥

यद्यपि कष्टों के मध्य व्यथित ही रही कान्ति
फिर भी छाया लावण्यमयी मिट सकी नहीं।
नयनाभिराम हो रही जानकी की मुख छबि
जिसकी अतिशय लालसा हृदय को सींच रही ॥ ११ ॥

जो किया राम ने उससे उनको हुई ग्लानि
मिथिलेश कुमारी से माँगी थी क्षमा यहाँ।
विधि था प्रतिकूल इसी से मति भ्रम हुआ सहज
इस समय स्वयं को गर्हित करते रहे यहाँ ॥ १२ ॥

'अपने समक्ष अग्नि में विशुद्धा सीता को
देखकर अचानक चित्र उन्हें था दण्ड दिया।
लज्जित हूँ अपने किये हुए पर अधिक देवि !
तथ्य को न समझा, पर, वध का आदेश दिया ॥ १३ ॥

वह मेरा था अपराध सुमुखि ! तुम क्षमा करो
तुम क्षमामूर्ति हो पृथ्वी की ही भाँति सही।
दोष तो सहज स्वाभाविक होते प्रकट देवि !
है कौन लोक में जो करता अपराध नहीं ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे राम
लज्जावश उनके अंग-अंग से अस्त-व्यस्त।
कुपिता सीता का अनुमोदन करने के हितार्थ
स्पर्श किया उनके चरणों का यहाँ अस्तु ॥ १५ ॥

उवाच चैनामपराधभीरु-
भीरु! क्षमां त्वामहमद्य याचे ।
कृतागसि त्वं मयि यद्दधासि
कोपं न तत्रानुचितं हि किञ्चित् ।। 16 ।।

त्वां नेतुमद्याहमुपस्थितोऽस्मि
पुरीमयोध्यामुपयाहि तां त्वम् ।
प्रासादशोभा भव मे पुनस्त्वं
मम प्रसादं च विवर्धयस्व ।। 17 ।।

नीतानि वर्षाणि मया दशै-
तान्यरण्यवासोचितजीवनेन ।
त्वया विना भामिनि कल्पकल्पा
हर्म्येषु रात्र्यो व्यतियापिताश्च ।। 18 ।।

त्वदेकचित्तोऽस्मि न रोचतेऽन्यत्
किञ्चित् समस्ते नृपवैभवेऽपि ।
शून्या दिशो भान्ति जगच्च शून्यं
शून्यस्य मे सर्वत एव शून्यम् ।। 19 ।।

इत्येवमुक्त्वा विरते नृपेन्द्रे
क्रोधेन दुःखेन च तप्यमाना ।
सन्धारयन्ती स्वमथो कथञ्चित्
सा मानिनी वाचमिमामुवाच ।। 20 ।।

सन्देहदंशेन भयङ्करेण
दष्टो यदा मे वधमादिशस्त्वम् ।

बोले—'हे देवि ! हुआ अपराध अधिक मुझसे
तुमसे मैं क्षमा माँगता हूँ इस समय यहीं ।
मेरे ऊपर जो क्रोध कर रही हो सीते !
अनुचित है कुछ भी यहाँ तुम्हारा कोप नहीं ॥ १६ ॥

मैं तुम्हें यहाँ से ले जाने को आया हूँ
अब तुम्हें अयोध्या ले जाऊँगा देवि ! वहाँ ।
तुम पुनः बढ़ाओ राजभवन की शोभा को
मेरा आनन्द बढ़ाओ चल कर देवि ! वहाँ ॥ १७ ॥

मैंने दश वर्षों को इस भाँति बिताया था
जैसे कोई जंगल में काट रहा हो दिन ।
थीं बिना तुम्हारे भवन-मध्य लम्बी रातें
हे भामिनि ! लगता था जैसे ब्रह्मा का दिन ॥ १८ ॥

बस एक तुम्हीं में रमा चित्त, अन्यत्र न कुछ
नृप वैभव में भी तनिक नहीं अनुराग, देवि !
दश दिशा शून्य हैं मेरे लिए जगत् सूना
अथवा सर्वत्र मुझे लगता है शून्य, देवि' ॥ १९ ॥

कहकर इस भाँति नृपेन्द्र राम जब हुए शान्त
तब क्रोध तथा दुःख से सन्तप्ता सीता भी ।
जैसे-तैसे निज को संभाल कर, अस्तु, वहाँ
इस भाँति वचन कह उठीं मानिनी सीता भी ॥ २० ॥

सन्देह दंश से दशित अधिक भयंकर से
आपने हमारे वध का था जब आदेश दिया ।

न जीवितं ते सकलं तदानीं
शून्यं भवेदित्यवधारणासीत्? ।।21।।

जीवामि दैवादहमद्य राजन्!
मृता त्वहं त्वत्कृत आसमेव ।
मृतां गृहाणैव तु मां त्वमद्य
त्वया मया किं करणीयमस्ति ।।22।।

अवर्णनीयाऽत्र मया विसोढा
ऽसहायया कष्टपरम्परा हा ।
स्वकीयहर्म्ये सुखितस्त्वमासी-
रहं पुनः काननमध्यवात्सम् ।।23।।

यद् भाषसे चापि समं त्वयाऽहं
पुरीमयोध्यां प्रति संव्रजेयम् ।
तच्चित्रमाभाति वचस्त्वदीयं
चित्राऽस्ति पुंसां मनसो गतिर्नु ।।24।।

संरक्षिताया दशकण्ठहर्म्ये
पुरा सुरक्षापुरुषैरनेकैः ।
चारित्र्यमालम्ब्य मदीयमासी-
स्त्वं शङ्कितान्तःकरणो नितान्तम् ।।25।।

एकाकिनी त्वत्र वनेऽहमासं
दीर्घाणि यावद्दश हायनानि ।
चारित्र्यमालम्ब्य कुतो न शङ्का
तवाऽस्ति मां यत्सह नेतुमिच्छा ।।26।।

सारा जीवन आपका शून्य हो जायेगा
उस समय आपने इस पर नहीं विचार किया ॥ २१ ॥

राजन् ! दैवी गति वश मैं जीवित हूँ आज यहाँ
आपके लिए तो मृता नहीं मैं दिखती क्या ?
मुझ मरी हुई को ग्रहण करें यदि आज आप
फिर मुझसे यहाँ आपका भला प्रयोजन क्या ॥ २२ ॥

हा ! मैंने सहे कष्ट जो लगते अवर्णनीय
असहायों की ही भाँति पड़ी मैं रही यहाँ ।
जब राजभवन में आप सुखों में पड़े रहे
मैं पुनः विपिन के मध्य पड़ी ही रही यहाँ ॥ २३ ॥

जो आप कह रहे चलूँ आपके साथ वहाँ
उस पुरी अयोध्या में लगता है सहज नहीं ।
आपके वचन निश्चित ही लगते अति विचित्र
पुरुषों के मन की गति विचित्र होती है सही ॥ २४ ॥

रावण के राजभवन में मेरी रक्षा पर
उस समय सुरक्षा पुरुषों की थी भीड़ वहाँ ।
फिर भी चरित्र में दोष आपको दिया सहज
आपका हृदय शंकालु हो उठा प्रभो ! वहाँ ॥ २५ ॥

फिर मैं हूँ एकाकिनी यहाँ पर विपिन मध्य
लम्बे दश वर्ष बिताये अब तक नाथ ! यहीं ।
अब आप साथ ले जाने की इच्छा करते
मेरे चरित्र में शंका क्यों अब आपकी नहीं ॥ २६ ॥

क्षुद्रं तवातीव मनो मतं मे
शङ्काग्रहग्रस्तमसूयकं च ।
कृतां दशास्याकृतिमेव दृष्ट्वा
क्रोधेन सद्यो भ्रमितं बभूव ।। 27 ।।

प्रतिक्षणं सन्निधिमेव तेऽहं
त्वया समं भ्रान्तवती लषन्ती ।
वर्षाणि नाना विपिनान्तरेषु
तथाऽपि सन्देह उदैत्त्वदन्तः ।। 28 ।।

यथैव वर्षाणि मया दशाऽत्र
वनस्य मध्ये व्यतियापितानि ।
तथैव शिष्टं वन आयुषोऽत्र
लषाम्यहं यापयितुं कथञ्चित् ।। 29 ।।

तत्स्वस्ति तेऽस्तु व्रज राजधानीं
न्यायेन सर्वाः प्रकृतीः प्रशाधि ।
पत्नी तवाहं तव नित्यमेव
ध्यास्यामि कल्याणमहं स्थिताऽत्र ।। 30 ।।

इत्येवमुक्त्वा विरराम सीता
मुमोच चास्त्रौघमजस्त्रमेव ।
दुःखौघमेषाऽगलयच्चिरोत्थं
स्वकीयमस्त्रौघमिषेण तत्र ।। 31 ।।

तूष्णीं स्थितस्तत्र रघूत्तमोऽपि
प्रावाहयत्सन्ततमस्त्रजालम् ।

हैं क्षुद्र विचार आपके मेरे बारे में
शंका से ग्रस्त आपका मन ईर्ष्यालु हुआ ।
रावण का चित्र मात्र लखकर उस समय प्रभो !
भर गये क्रोध से आप चित्त भी भ्रमित हुआ ॥ २७ ॥

आपके साथ प्रतिक्षण प्राय: मैं विपिन मध्य
जिस समय साथ ही साथ घूमती रही सहज ।
नाना वर्षों तक वन में था अपना निवास
फिर भी न कभी आपको हुआ मुझ पर संशय ॥ २८ ॥

जिस भाँति यहाँ मैंने दश वर्ष बिताये हैं
इस वन में रहकर बीते मेरे दिन जैसे ।
जो शेष रह गया समय आयु का किसी भाँति
वह भी इस वन में कट जायें जैसे-तैसे ॥ २९ ॥

इसलिए, राजधानी में आप लौट जायें
न्यायपूर्वक प्रजा-पालन भी करते रहें वहाँ ।
मैं पत्नी हूँ आपकी, आपका नित्यमेव
कल्याण मनाती रहूँ यदपि मैं रहूँ यहाँ ॥ ३० ॥

इस भाँति वचन कहकर सीता हो गईं मौन
उनके नयनों में अश्रु छलकते रहे वहाँ ।
जो व्यथा अभी तक भरी हुई उनमें सहसा
आँसू बन कर वह उमड़ पड़ी इस समय यहाँ ॥ ३१ ॥

जो शान्त रूप में बैठे थे राघव उनकी
आँखों से भी बह चले अश्रु थे लगातार ।

पत्युश्च पत्न्याश्च हि सङ्गमोऽय-
मवासृजद् दुःखमनन्तमेव ।। 32 ।।

स्वं पर्यवस्थाप्य यथा कथञ्चित्
रामोऽस्त्रधाराविलनेत्रयुग्मः ।
उवाच सीतां यदि नो प्रयासि
मया समं त्वं जहि तर्हि मां त्वम् ।। 33 ।।

त्वया विना मे क्षणमात्रमिच्छा
न जीवितुं सम्प्रति जीवलोके ।
त्वमेव सर्वस्वमसि प्रमादं
क्षमस्व मे देवि! दयां च धेहि ।। 34 ।।

नेदं कदाचिन्मयि सम्भवीति
वचः कठोरं तमुवाच सीता ।
पत्या निहन्तुः सविधे कथञ्चित्
मया न वस्तव्यमवश्यमेव ।। 35 ।।

सङ्कल्प एषोऽस्ति यदि प्रमाथी
तवेत्यहं किं करवाण्यभाग्यः ।
पुत्रौ प्रियौ त्वं मयका प्रयातुं
सहानुमन्यस्व तयोर्हिताय ।। 36 ।।

सीता समाकर्ण्य वचोऽदसीयं
बभूव दोलाचलचित्तवृत्तिः ।
सम्प्रेषये वा नहि वा सुतौ स्वा-
वित्यत्र तस्या न विनिश्चयोऽभूत् ।। 37 ।।

पति और धर्मपत्नी का संगम निश्चित ही
कर रहा सृजन दुःख का अनंत जो इस प्रकार ॥ ३२ ॥

राम के नेत्र से अश्रुधार, बहती अविरल
फिर किसी भाँति अपने को करके शान्त वहाँ ।
सीता से बोले—'यदि तुम साथ नहीं चलतीं
तो कर दो मेरा वध हे देवि ! तुरन्त यहाँ ॥ ३३ ॥

मैं बिना तुम्हारे क्षण भर भी जी सकूँ नहीं
इस समय न जीवित रहने की इच्छा सीते !
इसलिए कि तुम ही हो मेरा सर्वस्व देवि !
कर दया कि मुझ पर, क्षमा मुझे कर दो सीते ! ॥ ३४ ॥

'यह नहीं कदापि हो सकेगा मुझसे' ऐसी
कठोर वाणी कह उठी राम से सीता भी ।
'पत्नी की हत्या करने वाले के संग तो
रह नहीं सकेगी साथ कभी यह सीता भी' ॥ ३५ ॥

'यदि ऐसा है संकल्प तुम्हारा तो सीते !
भाग्य का दोष है मैं कुछ भी कर सकूँ नहीं ।
पर इन दोनों पुत्रों को मेरे साथ देवि !
जाने दो इनके ही हितार्थ मेरे संग ही ॥ ३६ ॥

सीता भी सुनकर रामचन्द्र के वचनों को
उस समय सोचने लगीं चित्त की वृत्ति विकल ।
पुत्रों को भेजूँ साथ या कि भेजना नहीं
इसका निश्चय कर सकीं न वे दिखती व्याकुल ॥ ३७ ॥

तयोर्विना हा! सुतरामहं स्या-
मेकाकिनी तौ तु ममावलम्बः ।
शून्ये वने यापयितुं कथं स्यां
वृद्धा सती शिष्टमहं स्वमायुः ।। 38 ।।

अन्धं तमो मे सचराचरं स्यात्
कृत्स्नं जगच्छून्यमिवाथ च स्यात् ।
स्वपुत्रवक्त्राम्बुजदर्शनेन
कथञ्चिदेव क्षपयामि कालम् ।। 39 ।।

निःस्वा दरिद्रा च तपस्विनी च
कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता च ।
जीर्णं ममेदं क्व कुटीरकं च
क्व चैव साकेतविशालसौधाः ।। 40 ।।

माताऽस्मि न स्वार्थवशात्कदाचित्
स्वपुत्रयोर्हानिमहं विधास्ये ।
पुरीमयोध्यां प्रति सम्प्रयातौ
सुशिक्षितौ तौ नियतं भवेताम् ।। 41 ।।

पिता तयो राजकुमारवच्च
सम्पादयेत्सर्वविधं विधानम् ।
तन्मे प्रियं स्यात्सुतरामतस्तौ
विसर्जये तद्धितकाम्ययाऽहम् ।। 42 ।।

पत्युर्वियोगो मयका विसोढ-
श्चिराय, सम्प्रत्यहमाश्रमेऽस्मिन् ।

दोनों पुत्रों के बिना बनूँ एकाकी हा !
इसलिए कि ये दोनों मेरे अवलम्ब यहाँ।
किस भाँति शून्य वन में मैं समय बिताऊँगी
वृद्धा होने पर शेष आयु कट सके कहाँ ॥ ३८ ॥

यह जगत् चराचर अन्धकार बन जायेगा
सर्वत्र लोक में शून्य-शून्य ही पाऊँगी।
कटता रहा समय निज पुत्र कमल मुख देख
मैं इनके बिना समय किस भाँति बिताऊँगी ॥ ३९ ॥

मैं तो दरिद्र हूँ, बनी तपस्विनी इस वन में
कष्टों से तथा अनिष्टों से मैं घिरी यहाँ।
है सहज जीर्ण कुटिया मेरी इस भाँति कहाँ ?
अथवा विशाल साकेतपुरी का भवन कहाँ ॥ ४० ॥

मैं माँ हूँ नहीं स्वार्थवश अपने अपने पुत्रों का
अहित कदाचित् देख सकूँ इस भाँति यहाँ।
ये दोनों पुत्र अयोध्या नगरी में जाकर
निश्चय ही होंगे परम सुशिक्षित सहज वहाँ ॥ ४१ ॥

ये पिता उन्हें जब राजकुमारों के समान
सम्पादित कर देंगे बहुविध सारा विधान।
इस समय त्याग मैं करूँ इन्हीं पुत्रों के हित
इससे मुझको भी मिले सहज सुख भी महान् ॥ ४२ ॥

जैसे मैंने पति का वियोग-दुःख सहा कठिन
इस समय यहाँ आश्रम में मैं यह सह लूँगी।

दीर्घं सहिष्ये सुतयोर्वियोगं
सीताऽस्मि सर्वं मम सह्यमेव ।। 43 ।।

एवं विनिश्चित्य सुतौ ततः सा
विसर्जयामास सबाष्पनेत्रा ।
कुटीरकद्वारि च संस्थिता तौ
ददर्श यान्तौ जनकेन साकम् ।। 44 ।।

यावन्न दृष्टेः परतस्तनूजौ
बभूवतुस्तावदसौ ददर्श ।
ततः कुटीरान्तरमाप्रपन्ना
पपात भग्ना कदलीलतेव ।। 45 ।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

सुतौ तस्या अभवतामवलम्बनमाश्रमे ।
वज्मृगस्य ऋषेस्तावप्यपयातौ विहाय ताम् ।। 46 ।।

मैं सीता हूँ मुझको तो सब कुछ सहना है
इसलिए, पुत्र का भी वियोग मैं सह लूँगी ॥ ४३ ॥

करके ऐसा निश्चय आँखों में अश्रु लिए
सीता ने दोनों पुत्रों को था विदा किया।
वह खड़ी हुई अपनी कुटिया के द्वार जबकि
पुत्रों को पिता संग जाते देखती वहाँ ॥ ४४ ॥

जब तक वे नहीं दृष्टि से ओझल हुए वहाँ
सीता अपने पुत्रों को थीं देखती रही।
तदनन्तर अपनी कुटिया के अन्दर आकर वह
गिर पड़ी भग्न कदली लतिका की भाँति वहीं ॥ ४५ ॥

आश्रम में आलम्बन स्वरूप
सीता के दोनों पुत्र रहे।
वज्मृग ऋषि के आश्रम से वे
सीता को तज कर चले गये ॥ ४६ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

(सीतापातालप्रवेशोपाख्यानं पूर्वानुवृत्तम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

सुतौ स्वतातेन सह प्रयान्तौ
कालेन साकेतमवाप्तवन्तौ ।
आकर्षणं तत्र निवासिनां च
बभूवतुश्चन्द्रमरीचिगौरौ ।।1।।

विकस्वराम्भोरुहदर्शनीयौ
गजेन यान्तौ कलभाविव द्वौ ।
रघूत्तमख्यातकुलप्ररोहौ
तपस्विवेषौ च धनुर्धरौ च ।।2।।

आनन्दनौ नेत्रयुगस्य दृष्ट्वा
ऽयोध्यापुरीवासिजनो न तृप्तः ।
बभूवतुः सत्यमुभौ कुमारौ
नेत्रद्वयासेचनकं जनस्य ।।3।।

हर्षोत्सवव्यापृतयोरजस्रं
नृपोचितैर्हृष्टहृदोश्च भोगैः ।
दिनान्यतीयुः प्रथमानि तावत्
क्षणोपमान्येव तयोः क्षणेन ।।4।।

चतुर्विंश सर्ग

(सीतापातालप्रबेशोपाख्यान पूर्वानुवृत्त)

निज पिता संग पुत्रों ने था प्रस्थान किया
कुछ समय बाद साकेत नगर में आ पहुँचे ।
साकेत वासियों में आकर्षण हुआ अधिक
लगते वे चन्द्रकिरण से लख सब हर्षित थे ॥ १ ॥

वे दोनों खिले कमल-सम लगते थे सुन्दर
गज के संग दिखते कमल-सदृश दोनों बालक ।
रघु के प्रख्यात कुलावतंस-से वर्द्धमान
तापसवेषी वे तथा धनुर्धारी बालक ॥ २ ॥

दर्शन करते ही उन नयनानन्द के वे
साकेत निवासी नहीं तृप्त हो सके सहज ।
वस्तुतः उस समय वे कुमार रघुवंशी जो
जन गण मन का आनन्द बढ़ाते रहे सहज ॥ ३ ॥

हर्षोल्लास हो रहा निरन्तर व्याप्त अधिक
राजोचित सुख-आनन्द भोगते रहे वहाँ ।
इस भाँति उस समय दिन प्रतिदिन बीतते रहे
कट रहा समय दोनों का क्षण की भाँति वहाँ ॥ ४ ॥

ततस्तु मातुः स्मृतिराविरासीद्
या तौ नितान्तं व्यथयाम्बभूव ।
आमन्त्र्य तातं तत आयियासू
स्नेहार्द्रभावां जननीमभूताम् ।।5।।

कुमारयोस्तं सुकुमारयोः स
भावं हृदो नोपरुरोध तातः ।
म्लानोऽपि दुःखेन तयोर्वियोगात्
तदीययात्रामनुमेन एव ।।6।।

सीतां च सन्देशमहारयत्स
तयोर्मुखेनार्भकयोर्नृपेन्द्रः ।
नो चेत्त्वमायासि पुरीमयोध्यां
ममाश्रुजालं मम [1]प्राणहृत्स्यात् ।।7।।

प्राप्तौ कुटीरं जनकात्मजाया
ददर्शतुः क्षामतमाममूं तौ ।
सा चाभ्यनन्दत्सुतदर्शनोत्थां
प्रवाहयन्ती नयनाश्रुधाराम् ।।8।।

पुनः पुनस्तावुपगुह्य सा चा-
ऽप्राक्षीदयोध्यापुरवृत्तजातम् ।
तौ चापि वृत्तं निखिलेन वाग्भि-
स्तामुक्तवन्तौ मधुराक्षराभिः ।।9।।

रामस्य सन्देशमथापि यं स
सम्प्रेषयामास मुखेन ताभ्याम् ।

1. 'हृ प्रे वा' इत्याश्रित्य प्रयोगः।

तदनन्तर माँ की याद आ गयी दोनों क़ो
इसलिए, व्यथा से वे बालक हो रहे विकल।
तात की आज्ञा से माँ के दर्शन हितार्थ
कामना हुई, माँ भी तो थी स्नेह-विकल ॥ ५ ॥

सुकुमार कुमारों के अन्तर के भाव समझ
श्रीराम उस समय उन्हें रोक भी सके नहीं।
उनके वियोग का क्लेश उन्हें था यदपि अधिक
फिर भी उनको यात्रा-आदेश दे दिया वहीं ॥ ६ ॥

श्रीरामभद्र ने उन दोनों के द्वारा ही
सीता को भी सन्देश दे दिया इस प्रकार।
'यदि नहीं आ सकोगी तुम देवि ! अयोध्या में
मेरे प्राणों का अन्त करेगी मम अश्रुधार' ॥ ७ ॥

सीता की कुटिया मध्य पहुंचकर दोनों ने
अपनी दुखिया माँ का दर्शन था किया सहज।
वह देवी भी अपने पुत्रों को देख-देख
नयनों से रही बहाती आँसू-धार सहज ॥ ८ ॥

आलिंगन पुत्रों का करती वह बार-बार
फिर रही पूछती वृत्त अयोध्यापुर का वह।
उन दोनों ने अत्यन्त मधुर वाणी में ही
सारा वृत्तान्त सुनाया माँ को उसी समय ॥ ९ ॥

श्री रामचन्द्र का भी सन्देश सुनाया वह
जो कहा उन्होंने अपने पुत्रों से उस क्षण।

आकर्ण्य यं वज्रसमं कठोरं
सीतामनो नो द्रवितं बभूव ।।10।।

वाच्यः पिता मद्वचनाद् भवद्भ्यां
भवेदपीदं यदि सत्यमेव ।
एष्याम्यहं तेऽन्तिमदर्शनार्थं
पुरीमयोध्यामिति मे प्रतिज्ञा ।।11।।

तौ तत्र कालं व्यतियाप्य कञ्चित्
पुनः स्वतातं समभिप्रयातौ ।
तमुक्तवन्तौ जननीवचश्च
रामोऽभवन्मर्मसु येन विद्धः ।।12।।

निद्रां न लेभे स निशा अनेकाः
प्रजागराच्चापि कृशो बभूव ।
छाया तु लावण्यमयी मुमोच
लोकाभिरामं नहि तं कथञ्चित् ।।13।।

विदेहजासङ्गमनाभ्युपायं
व्यचारयद्दीर्घविचारवान् सः ।
सीतावचस्येव तमाससाद
न बह्वपायं सममंस्त तं च ।।14।।

निमन्त्रयामास कपिं स्वभक्तं
सदा स्वकार्यार्थसमुत्सुकं सः ।
उवाच चैनं प्रणयात्सखे! त्वं
कार्यं ममैकं हनुमन्! कुरुष्व ।।15।।

वज्र की भाँति जो था कठोर सुनकर उसको
सीता का मन भी द्रवित हो उठा था उस क्षण ॥ १० ॥

'हे पुत्र ! निज पिता से कहना मम वचन यही
यदि ऐसी स्थिति आयेगी वस्तुतः तात !
है यही प्रतिज्ञा मेरी अन्तिम दर्शन हित
मैं पुरी अयोध्या में जाऊँगी, सुनो तात ॥ ११ ॥

वे दोनों वहाँ कुछ समय रहकर आश्रम में
तदनन्तर अपने पिता राम के ढिंग आये ।
माँ सीता की बात को सुनाया था उनसे
जिससे राम के मर्म पर अधिक चोट आये ॥ १२ ॥

वे कई रात तक निद्रा प्राप्त न कर पाये
इसलिए जागरण से वे दुर्बल हुए अधिक ।
फिर भी न विलुप्त हुई उनकी वह छवि छाया
लोकाभिरामता मन्द न किसी प्रकार तनिक ॥ १३ ॥

वैदेही के उस पुनर्मिलन के बारे में
वे परम विवेकी रहे सोचते सतत वहीं ।
सीता के वचनों पर उनकी थी लगी आस
जिसमें उनको दिखता था कुछ सन्देह नहीं ॥ १४ ॥

बुलवाया अपने भक्त कपीश्वर हनुमत् को
जो सदा राम के कार्य हेतु रहते उत्सुक ।
अत्यन्त प्रेम से कहा—'सखे ! तुम इसी समय
है कार्य एक अब करो हमारा ओ हनुमत् ॥ १५ ॥

त्वमाश्रमं याहि परं पवित्रं
कपे! ऋषेर्वज्मृगनामकस्य ।
कुटीरके तत्र च संवसन्तीं
विदेहपुत्रीं भण कौशलेन ।। 16 ।।

त्वद्विप्रयोगार्तिविदीर्णचेता
दिवं गतः सम्प्रति राघवेन्द्रः ।
इत्यस्मि दुःखाकरमद्य वृत्तं
त्वामागतः सूचयितुं विदूरात् ।। 17 ।।

यथोक्तमेतत्कुरु कार्यमाशु
सखे! हनूमन्नतिपाटवेन ।
त्वं संवृताकार उपेहि तां च
संभाषमाणो भव गूढभावः ।। 18 ।।

प्रियोऽसि मे त्वं कुरु तत् सखेदं
कुरु प्रसन्नं ननु मां सखेदम् ।
सदैव सप्रत्ययमस्ति चेत-
स्त्वय्येव मद्भक्तवरे हनूमन्! ।। 19 ।।

ओमित्युदीर्य प्रणिपत्य चासा-
वुत्पुप्लुवे द्यां पवनस्य पुत्रः ।
सम्प्राप गत्या पवनस्य शीघ्रं
विदेहजाशून्यकुटीरकं च ।। 20 ।।

आलोक्य तामश्रुकषायकण्ठो
निवेदयामास स घोरवृत्तम् ।

ऋषि वज्मृग के उस परम पुनीत आश्रम में
हनुमान् ! शीघ्रातिशीघ्र वहाँ पर तुम जाओ।
उस आश्रम की कुटिया में रहती हैं सीता
अपने कौशल से तुम उनको यह बतलाओ ॥ १६ ॥

वे राम तुम्हारे ही वियोग में व्यथित हृदय
होकर सहसा इस समय मृत्यु को प्राप्त हुए।
अत्यन्त दुःख का विषम आ गया देवि ! वहाँ
आ गया तुम्हें यह वृत्त बताने इसीलिए ॥ १७ ॥

मैं जैसा कहता हूँ तुरन्त तुम करो उसे
हे सखे हनूमत् ! तुम अति पटु हो यही समझ।
उनके समक्ष अपने निगूढ़ भावों को भी
संभाषण में हनुमत् ! तुम रखना उन्हें गुप्त ॥ १८ ॥

तुम हो मेरे प्रिय सखा इसलिए करो इसे
ऐसा करके मुझको हर्षित कर दो कपीन्द्र।
तुम ही सदा रहे हो मेरे विश्वास पात्र
इसलिए कि मेरे परम भक्त तुम हो कपीन्द्र ॥ १९ ॥

'ठीक है' कहा कपि ने करके सादर प्रणाम
वह उसी समय आकाश मार्ग से चला तुरत।
वह पवनपुत्र जा पहुँचा आश्रम के समीप
सीता की कुटिया के समक्ष आ गया तुरत ॥ २० ॥

देखकर जानकी को आँखों में भरे अश्रु
था किया निवेदन उनसे वह दुःख वृत्त वहीं।

आकर्ण्य यद् वज्रसमं बभूव
सीता क्षणार्धेन विनष्टसञ्ज्ञा ।। 21 ।।

अयो घनीभूतमिवास्त यस्या-
श्चित्तं भृशं दुःखपरम्पराभिः ।
विदेहजाया हृदयं तदेव
वृत्तादमुष्माद् द्रवितं बभूव ।। 22 ।।

कष्टान्यनिष्टानि सहेत नारी
बहूनि लोके बहुदुःखदानि ।
वैधव्यदुःखं न कदाचिदेव
सहेत साऽसह्यतमं तदस्ति ।। 23 ।।

सुदुःखिता वज्रसमप्रहारात्
पुरीमयोध्यां प्रति सा प्रतस्थे ।
हनूमता साऽक्रमकालहीनं
प्राप्ताऽभवच्चापि नृपेन्द्रसद्म ।। 24 ।।

प्राप्ता च तत्सा विललाप धीरा-
ऽप्यधीरवद् बाष्पमवासृजन्ती ।
कुत्रासि मे नेत्ररसायन! त्वं
कुतो न मां त्वं सह नीतवांश्च ? ।। 25 ।।

त्वं जीवने मह्यमदा वियोगं
वर्षाणि नाना नयनाभिराम ।
न मृत्युकालेऽपि समागते ते
सङ्गो मया सार्धमभीप्सितोऽभूत् ।। 26 ।।

उस वज्र सदृश वृत्त को श्रवण करके सहसा
सीता तत्क्षण निश्चेतन थी हो गई वहीं ॥ २१ ॥

जो घनीभूत लौह के सदृश उनका अन्तर
कष्टों पर कष्ट निरन्तर पड़ते रहे अधिक।
देवी सीता का वही हृदय इस घटना से
हो उठा सहज ही द्रवित उस समय वहाँ अधिक ॥ २२ ॥

यद्यपि नारी सह लेती है कष्ट और अनिष्ट
लोक में सदा झेलती रही बहु दुःख सदा।
फिर भी न कदापि सहन कर पाती है सहसा
वैधव्य-दुःख जो असहनीय-सा रहा सदा ॥ २३ ॥

वज्र की भाँति था यह प्रहार वह हुई दुःखी
इस समय अयोध्यापुरी हेतु चल पड़ीं तुरत।
उन महावीर हनुमत् के संग तत्क्षण देवी
श्रीरामभद्र के भवन मध्य आ गयीं तुरत ॥ २४ ॥

आते ही वे धीरा दिखीं अधीरा-सी
नयनों में आँसू भरे कर रही थीं विलाप।
'हे मेरे नेत्र रसायन ! तुम हो कहाँ नाथ
क्यों नहीं ले गये मुझे वहाँ साथ में आप ॥ २५ ॥

नयनाभिराम ! जब जीवित थी उस समय मुझे
था किया पृथक नानावर्षों के लिए नाथ !
लगता है इसीलिए, मृत्यु के समय आप
समझा न उचित मुझको ले जाना साथ-साथ ॥ २६ ॥

विहाय किं त्वं त्रिदिवं गतो भू-
रेकाकिनीं मामिह जीवलोके ।
स्वभर्तृवर्त्मप्रतिपन्नतैव
स्त्रीणां विधात्रा विहिता जगत्याम् ।। 27 ।।

पतिं तु या नार्यतिजीवतीह
नान्या ततोऽधन्यतमाऽत्र लोके ।
एवंविधाया हतजीविताया
न जीवनं हा मम जीवनं स्यात् ।। 28 ।।

न जीविता वा न मृता च वापि
स्वकर्मभोगार्थमहं श्वसन्ती ।
यथाकथञ्चिन्निजमायुषोऽहं
शेषं प्रभो! यापयितास्मि कृच्छ्रात् ।। 29 ।।

विलापमग्नेत्थमभूद्यदा सा
सीता तदाऽभूत्सहसैव रामः ।
तिरस्करिण्याः प्रकटश्छलेन
यस्यां हि सोऽन्तर्हित आस्त पूर्वम् ।। 30 ।।

आलोक्य तं विस्मितमानसा सा
स्वस्मिन्नविश्वासमुपेयुषी च ।
क्षणं तु तावद् बुबुधे न किञ्चिद्
बुद्धिभ्रमः सम्भ्रमजोऽत्र हेतुः ।। 31 ।।

ततो व्यजानाच्छलिताऽस्मि भर्त्रा
स्वमृत्युसन्देशमिषेण तावत् ।

क्यों मुझे अकेली मृत्युलोक में तज करके
आपने स्वयं है स्वर्गलोक प्रस्थान किया।
निज पति के पथ पर चले सदा नारी ऐसी
विधि ने जग में जब यही स्वयं विधान किया ॥ २७ ॥

है नहीं अधम कोई नारी उससे जग में
जो जीवित रहती पति के बिना प्रभो ! कि यहाँ।
हा, हतभागिनी हुई इस भाँति नाथ ! मेरा
यह जीवन भी क्या जीवन है इस समय यहाँ ॥ २८ ॥

अथवा मैं जीवित नहीं, नहीं मृत भी अथवा
अपने कर्मों के भोग हेतु जी रही नाथ !
जैसे-तैसे निज शेष आयु काटनी मुझे
इस भाँति कठिनता से जीना है मुझे नाथ' ॥ २९ ॥

जब थीं विलाप में मग्न जनकतनया उस क्षण
सहसा तब वहीं भवन में राघव प्रकट हुए।
जो पर्दे के पीछे छल से सुन रहे वहाँ
पहले से ही वे वहाँ भवन में छिपे हुए ॥ ३० ॥

देखकर राम को सीता को आश्चर्य हुआ
सहसा उनको हो सका सहज विश्वास नहीं।
कुछ समय जानकी समझ पा सकीं नहीं वहाँ
इसलिए कि उनकी बुद्धि भ्रमित हो उठी वहीं ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सीता समझ गईं पति के द्वारा
मृत्यु की खबर केमिस वह थी छली गईं।

अहो! जघन्याऽस्य विचाररीतिः
कृत्यं जघन्यं च ततोऽपि भूयः ।। 32 ।।

पुरा मयोक्तं सुतयोर्मुखाद्यद्
भवेत्तु यद्यस्त्रभरेण तेऽन्तः ।
अवश्यमेवान्तिमदर्शनार्थं
पुरीमयोध्यामहमाव्रजेयम् ।। 33 ।।

तदेव सङ्केतमदादमुष्मै
येनाहमायामिह राजधान्याम् ।
मत्प्राप्तिहेतो रचिताऽत्र माया
मायाविना मत्पतिना नृशंसा ।। 34 ।।

प्रवञ्चनां शुद्धहृदो जनस्य
विगर्हणीयां प्रवदन्ति सन्तः ।
समाश्रयन्मद्विषये पतिस्तां
मर्मप्रहारं समपातयन्मे ।। 35 ।।

न स्थातुमीशे क्षणमप्यहं द्राग्
ऋष्याश्रमं यामि च मे निवासम् ।
पुनर्न विश्वासमहं कदाचिद्
गिर्यस्य यास्यामि शठोत्तमस्य ।। 36 ।।

इत्थं वचः प्रोच्य समुत्थिताऽभूत्
ततो विदेहस्य सुता प्रयातुम् ।
तन्निर्गमं च प्रतिरोद्धुकामो
रामोऽवदत् सान्त्वपरं वचस्ताम् ।। 37 ।।

अचरज है उनकी दूषित मति की रीति वही
पहले जैसी ही घृणित नीति तज सके नहीं ॥ ३२ ॥

पहले मुझसे था कहा गया सुत के मुख से
यदि अश्रुप्लावित-दशा मध्य हो अन्त कहीं।
तो अन्तिम दर्शन हेतु गमन होगा अवश्य
उन रामभद्र की पुरी अयोध्या मध्य वहीं ॥ ३३ ॥

इसलिए, वहीं संकेत बहाना बना सहज
जिससे कि राजधानी में मैं आ गयी यहाँ।
लगता है, मेरी प्राप्ति हेतु मेरे नृशंस
पति से यह माया रची गयी इस समय यहाँ ॥ ३४ ॥

जो शुद्ध हृदय होते हैं उनकी प्रवंचना
कहते हैं सन्त विगर्हणीय उनका विचार।
मेरे पति ने इसलिए, इसी का आश्रय ले
कर दिया पुनः मेरे मर्मों पर ही प्रहार ॥ ३५ ॥

इसलिए, चली जाऊँ मैं ऋषि के आश्रम में
क्षण भर भी यहाँ ठहरना दिखता उचित नहीं।
अथवा ऐसे शठ की बातों पर मैं कदापि
विश्वास करूँगी अब भविष्य में सहज नहीं ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर सहसा जब उठ कर खड़ी हुई
मिथिलेश सुता जाने के लिए दिखीं तत्पर।
निर्गमन देख देवी का, जब रोकने हेतु
राम ने सान्त्वना-वचन कहे होकर सत्वर ॥ ३७ ॥

त्वत्प्राप्तये भामिनि! संश्रितोऽभूद्
दुःखातिरेकेण मयैष पन्थाः ।
तन्मा क्रुधस्त्वं मयि देवि! सीते!
दीने जने ते करुणैव साध्वी ।। 38 ।।

दयापराऽसाधुमिमं क्षमस्वा-
न्याय्यं ममाचारमति प्रबुद्धा ।
मतिभ्रमः प्राकृतिकोऽस्ति पुंसु
जायाविहीनस्थितिकेषु लोके ।। 39 ।।

क्रोधाद् भ्रमन्ती परिनिःश्वसन्ती
विदेहजाऽऽकर्ण्य वचस्तदीयम् ।
प्रवञ्चकेनेह न मेऽस्ति कार्यं
पुनः पुनर्वाचमिमामुवाच ।। 40 ।।

हन्ताऽसि पत्न्या अनुदारभावः
प्रवञ्चकोऽस्युत्पथमाश्रितोऽसि ।
इतो विनिर्यामि निजाश्रमं च
प्रयामि तत्रैव सुखं ममास्ति ।। 41 ।।

इत्येवमुक्त्वा क्रुधमभ्युपेता
प्रचक्रमे सा तु यदा प्रयातुम् ।
तदैव रामः समुवाच गन्तु-
मितो न शक्ताऽसि कथञ्चिदेव ।। 42 ।।

द्वाराणि रुद्धानि समन्ततोऽत्र
विनिर्गमस्यास्ति न तेऽभ्युपायः ।

'हे भामिनि ! केवल तुम्हें प्राप्त करने के मिस
दुःख की कातरता वश यह पंथ लगा समुचित।
इसलिए, न मुझ पर करो क्रोध मिथिलेश सुते
दुःखियों पर करुणा दिखलाना हे देवि ! उचित ॥ ३८ ॥

तुम दयामूर्ति हो अति प्रबुद्ध मुझ दुर्जन के
इस कदाचरण को क्षमा करो देवी सीते !
पत्नी विहीन हो जाते हैं जो लोकमध्य
वे मति भ्रम हो जाते हैं सहज रूप सीते ॥ ३९ ॥

निःश्वास छोड़ती तथा क्रोध में घिरी हुई
सुनकर पति के वचनों को सीता इस प्रकार।
'है नहीं छली से मेरा कोई कार्य यहाँ'
कह उठीं जानकी रामभद्र से बार-बार ॥ ४० ॥

अनुदार भाव हो, तुम पत्नी के वधिक, छली
तुमने कुपन्थ का लिया आश्रय सहज यहाँ।
इसलिए, जा रही हूँ मैं अपने आश्रम में
मेरे मानस को शान्ति और सुख मिले वहाँ ॥ ४१ ॥

ऐसा कहकर क्रोध में भरी जब वैदेही
उस समय निर्गमन हेतु दिख रहीं थी तत्पर।
तत्क्षण सहसा श्रीरामभद्र कह उठे तुरत
'तुम नहीं जा सकोगी हे सीते ! इस प्रकार ॥ ४२ ॥

कोई उपाय है नहीं निर्गमन का क्योंकि
हैं द्वार चतुर्दिक् बन्द भवन के देवि ! यहाँ।

न त्वादृशः स्युर्विनयेन शक्याः
कर्तुं वशे नानुनयेन वापि ।।43।।

श्रुत्वातिघोरं वचनं तदीयं
सीता परं विस्मयमाजगाम ।
सम्प्रार्थयामास च सेष्टदेवं
बद्धाञ्जलिर्नेत्रयुगं निमील्य ।।44।।

अतीव चित्रं समभूत्तदैव
पृथ्वी विदीर्णा स्वयमेव जाता ।
विदेहजाता च ततः प्रयाता
पातालोकं प्रति लोकवन्द्या ।।45।।

(अनुष्टुब्वृत्तम्)

राजा पातालोकस्य नाम्ना नागविरुण्णिति ।
तदाऽऽसीद्यः शशासामुं न्यायेनामितविक्रमः ।।46।।

स्वयं पृथ्व्यां विदीर्णायां प्राञ्जलिः प्रणता तदा ।
तस्यैव राजधानीं सा सीता माता गताऽभवत् ।।47।।

तच्च दृष्ट्वाऽद्भुतं दृश्यं सुतरां रोमहर्षणम् ।
रामः सीतावियोगार्तो निःसञ्ज्ञो भूतलेऽपतत् ।।48।।

हैं नहीं तुम्हारे सदृश विनय या अनुनय से,
वश में करने के लिए कभी संभव कि यहाँ ॥ ४३ ॥

सीता अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गयीं सहज
सुनकर अतिघोर वचन पति के जब इस प्रकार
अंजली बाँधकर नेत्र-युगल को मूंद तभी
स्तवन किया निज इष्टदेव का बार-बार ॥ ४४ ॥

अत्यन्त विचित्र घटी घटना सहसा ऐसी
पृथ्वी विदीर्ण हो गई उस समय स्वयं वहाँ ।
वह लोकवन्द्य कन्या विदेह की अकस्मात्
पाताल लोक प्रस्थान कर गयीं सहज वहाँ ॥ ४५ ॥

वे नाग विरुण्णति नामक जो
पाताल लोक के राजा थे ।
न्याय से कह रहे शासन जो
अत्यन्त विक्रमी शासक थे ॥ ४६ ॥

पृथ्वी विदीर्ण हो गयी स्वयं
थीं प्रणत अंजली बंधी तथा ।
पाताल-राजधानी में ही
सीता माता थीं गयीं तथा ॥ ४७ ॥

यह अद्भुत दृश्य देखते ही
अत्यन्त रोमहर्षण जो वहाँ ।
सीता-वियोग से दुःखी राम
निश्चेतन भू पर गिरे वहाँ ॥ ४८ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

(सीतारामसमागमोपाख्यानम्)

(इन्द्रवज्रावृत्तम्)

कालेन भूयः परिलब्धसञ्ज्ञः
स्वं पर्यवस्थाप्य यथाकथञ्चित् ।
राजा प्रजारञ्जनमादधानो
रामः स्वकार्येषु बभूव सक्तः ।।1।।

अत्रान्तरे देवसभं विशालं
श्रीशङ्करादेशवशाद् बभूव ।
कैलासशैले त्रिदिवाः समेऽपि
यल्लोकलोकान्तरतः समेताः ।।2।।

(इन्द्रवज्रावृत्तम् उपजातिवृत्तञ्च)

प्रत्येकमेतच्छतहायनाना-
मायोज्यतानन्तरमत्र शैले ।
असूचयन्निर्जरसः समेता
यत्रेश्वरं सृष्टिगतं यदास्त ।।3।।

संयोजिते देवसभे तदानी-
मिन्द्रादयो देवगणा अवोचन् ।

पञ्चविंश सर्ग

(सीतारामसमागमोपाख्यान)

कुछ समय अनन्तर रामभद्र चैतन्य हुए
जिस किसी भाँति वे स्वस्थ अवस्था में आये।
तब प्रजानुरञ्जन हित राजा के लिए भार
निज कार्य-व्यवस्था में वे तत्पर हो पाये ॥ १ ॥

फिर इसी बीच श्री शंकर के आदेशों से
था हुआ विशाल देव-संगत का आयोजन।
आ गये देवगण सभी लोक-लोकान्तर से
कैलास शैल पर अद्‌भुत था वह सम्मेलन। २ ॥

प्रत्येक सौ बरस पर होता था सम्मेलन
जो इसी शैल पर आयोजित हो रहा यहाँ।
जिसमें ले करके भाग सभी देवता सहज
विश्व की परिस्थिति सूचित करते सभी वहाँ ॥ ३ ॥

उस देव सभा के आयोजन में उसी समय
इन्द्रादिदेवगण शिव से बोले इस प्रकार।
'हे महादेव भगवन् सर्वत्र कुशल ही है
विग्रह-अशान्ति है नहीं कहीं न किसी प्रकार ॥ ४ ॥

सर्वत्र वार्तं भगवन्नवेहि
कुत्राप्यशान्तिर्न च विग्रहः स्तः ।।4।।

श्रीराघवेन्द्रेण जिताः प्रविष्टा
रक्षोऽधमा मूषकवद्बिलेषु ।
सूर्योदये सन्तमसं यथैव
तथैव ते दूरत एव नष्टाः ।।5।।

नोपद्रवो लक्ष्यत एवमेव
भयं कुतश्चिच्च न लक्ष्यतेऽद्य ।
रामे भुवं शासति सर्वथात्र
रक्षःकुलस्यास्ति विराम एव ।।6।।

सर्वत्र शान्तिः परिलक्ष्यतेऽत्र
श्रीरामराज्ये तु कुतोऽन्यथा स्यात् ।
"सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः
कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा" ।।7।।

इदं पुनर्नः सुतरां दुनोति
महीतले यन् नयनाभिरामः ।
सन्तप्यतेऽहर्निशमेव रामो
वियोगपीडापरिहारकामः ।।8।।

तदत्र कञ्चिद् भगवानुपायं
समाश्रयेच्चेत्सुतरां वरं स्यात् ।
रामस्य लोकेषु वरस्य[1] पीडा
करोति सर्वस्य नितान्ततान्तिम् ।।9।।

1. थाइभाषायां रामः सदैव फ्रराम इत्येवोच्यते। फ्र इतिशब्दश्च वरशब्दस्यैवापभ्रंशः। यथा भारते श्रीराम एवं थाइदेशे फ्रराम इति प्रयोगः।

श्री रामभद्र के द्वारा जीते गये निशाचर सब
मूषक की भाँति घुसे विल में वे अधम दुष्ट।
सूर्योदय पर जैसे मिट जाता अन्धकार
वैसे ही वे सब के सब सहसा हुए नष्ट ॥ ५ ॥

इस भाँति कहीं भी नहीं उपद्रव दिखता अब
भय का न कहीं पर दिखता अब कोई निशान।
सर्वथा राम के पृथ्वी पर शासन से ही
राक्षस कुल का हो चुका सहज ही अब विराम ॥ ६ ॥

श्रीरामराज्य में नहीं अन्यथा कुछ भी है
सर्वत्र शान्ति ही परिलक्षित हो रही यहाँ।
'भगवान् भास्कर के तपने पर लोकमध्य
अंधियारी सब भला दिखलायी पड़े कहाँ ॥ ७ ॥

पर, हमें कष्ट है यही देख कर इस क्षण
पृथ्वी तल पर नयनाभिराम राम।
दिन-रात तप्त हो रहे प्रिया वियोग की पीड़ा
दूर हो यही है उनके मन का काम ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! इसका है उपाय कोई ऐसा
जिसके द्वारा हो सके कुशल जो अत्युत्तम।
राम की व्यथा इस समय लोकलोकान्तर को
कर रही व्यथित अत्यन्त सभी को, पीड़ित मन ॥ ९ ॥

तथास्त्विति प्रोक्तवतीश्वरे द्राग्
रामः समाहूयत जानकी च ।
आनाय्यतादेशवशात्प्रभोर्द्राक्
पाताललोकाद्विबुधैः सुदूरात् ।। 10 ।।

तयोः प्रभुः सङ्गममीप्सुरेवं
व्यचिन्तयद् यद् यदि कौशलेन ।
वर्तेऽहमत्रातिसुदुष्करस्य
कार्यस्य सिद्धिर्भविताऽन्यथा न ।। 11 ।।

सीतागतं रोषमसौ प्रजानन्
रघूद्वहाङ्गीकरणे च नेच्छाम् ।
तदानुकूल्यं प्रथमं विधातुं
रामं स निर्भर्त्सयितुं प्रवृत्तः ।। 12 ।।

विवेकवान् सन्नपि यत् स्वपत्न्या
यथास्थितिं न प्रविजानतैव ।
वधस्त्वयाऽऽदिष्ट इति प्रमाथी
रामास्त्ययं ते प्रथमोऽपराधः ।। 13 ।।

प्रख्याप्य मृत्युं हनुमन्मुखेन
प्रावञ्चयो यज्जनकात्मजां त्वम् ।
राज्ञोऽतिसन्धानपरस्य सत्यं
तव द्वितीयोऽस्त्यपराध एषः ।। 14 ।।

दिवं गतोऽसीति कपेरसत्य-
सम्भाषणात्तेऽन्तिमदर्शनार्थम् ।

'ऐसा ही हो' कह महामहेश्वर ने तुरन्त
राम को बुलाया और जानकी को उस क्षण।
जो गयीं बुलाई शिव जी के आदेशों से
पातालदेश से देवों के द्वारा उस क्षण ॥ १० ॥

प्रभु ने था किया विचार यहाँ यदि कौशल से
दोनों का होवे मिलन चाहते रहे यही।
इस कार्य की सिद्धि तभी होगी संभव
अन्यथा कभी भी कार्य सिद्ध हो सके नहीं ॥ ११ ॥

'वे समझ रहे थे सीता परम क्रोध में हैं
इच्छा न राम को अपनाने की है उनकी।
इसलिए यही समुचित होगा सबसे पहले
'राम की करूँ भर्त्सना यह प्रवृत्तिं जगी उनकी ॥ १२ ॥

'यद्यपि थे परम विवेकी तुम निज पत्नी की
स्थिति के बारे में न समझ पाये फिर भी।
अपराध तुम्हारा यही प्रथम हे राम ! क्योंकि
तुमने उस निरपराध के वध की आज्ञा दी ॥ १३ ॥

फिर हनूमान् के मुख से अपनी मृत्यु
का सन्देश भेजकर सीता से छल किया स्वयम्।
राजा होकर सचमुच है गर्हित कर्म किया
इसलिए, तुम्हारा यह द्वितीय अपराध परम ॥ १४ ॥

'हो गये दिवंगत' ऐसा कपि के मुख से सुन
सीता अन्तिम दर्शन हित थी आयी तत्क्षण।

सीतामुपेतां यदुपारुधस्त्व-
मयं तृतीयोऽस्ति तवापराधः ।। 15 ।।

क्षमामिमामस्य कृतेऽपराध-
त्रयस्य याचस्व विदेहजां त्वम् ।
मन्ये ध्रुवं त्वामपराद्धमेषा
मृष्येदमर्षं च हृदो विजह्यात् ।। 16 ।।

न साध्वहं नाम विदेहजाया-
मचारिषं तेन कृतापराधः ।
उपस्थिते देवसभे तदर्थं
याचे क्षमां राम इदं बभाषे ।। 17 ।।

तदोन्मुखीभूय विदेहजातां
महेश्वरो वाचमिमामुवाच ।
क्षमस्व सीते! पतिमर्हसि त्वं
नैवास्य तावत्प्रणयं विहन्तुम् ।। 18 ।।

श्रुत्वा प्रभोर्वाचमुवाच सीता
पतिर्ममैषोऽस्थिरचित्तवृत्तिः ।
रुष्येत्कदाचित्त्वथवा प्रसीदेत्
कदाचिदित्यस्मि नितान्तभीता ।। 19 ।।

नाङ्गीकरिष्यामि विभो ! ततोऽहम्
एवं कदाचित्पुनरप्ययं स्यात् ।
असाधुवृत्तिर्मयि वृत्तिरस्य
दृढं विनिर्धारयितुं न शक्या ।। 20 ।।

तीसरा हुआ अपराध तुम्हारे हाथों से
करवाये सारे द्वार बन्द तुमने उस क्षण ॥ १५ ॥

इसलिए, तीन अपराध हुए हैं तुमसे जो
सीता से उसके लिए क्षमा माँगो अब तुम ।
देवी भी क्षमा करेंगी अपना क्रोध त्याग
वस्तुतः कर गये हो अपराध भयंकर तुम ॥ १६ ॥

यह मैंने अनुचित किया राम बोले उस क्षण
सीता के साथ किया मैंने अपराध अधिक ।
इसलिए, क्षमा मैं माँग रहा हूँ देवी से
इस देव सभा में उसी बात के लिए उचित ॥ १७ ॥

तदनन्तर शिव ने सीता से सम्मुख होकर
उस देवसभा के मध्य सहज यह बात कही ।
अपने इस पति को क्षमा-दान दे दो सीते !
इसलिए कि त्याग प्रणय का दिखता ठीक नहीं ॥ १८ ॥

शिव जी की उन बातों को सुन वैदेही
'मेरे पति की तो चित्तवृत्ति स्थिर न कहीं ।
क्षण एक क्रोध में जो प्रसन्न हों तदनन्तर
इससे नितान्त भयभीता मैं हो रही यहीं ॥ १९ ॥

मैं इन्हें न अंगीकार करूँगी, अस्तु, प्रभो !
इसलिए कि शायद पुनः करें यह वृत्त कहीं ।
इनकी असाधु है वृत्ति यही सोच विभो !
निश्चय कोई इस समय नाथ ! कर सकूँ नहीं ॥ २० ॥

सत्यं प्रसादोऽपि भयङ्करः स्या-
ल्लोके जनस्यास्थिरचित्तवृत्तेः ।
अतो न शक्ताऽस्य गृहे निवस्तुं
सङ्कल्प एषोऽस्ति दृढो मदीयः ।। 21 ।।

विदेहजाया अभिलक्ष्य बुद्धिं
दृढां महेशः पुनरूचिवांस्ताम् ।
मैवं शुभे ! बुद्धिमिमां कृथास्त्वं
पतिर्हि नार्याः परमेश्वरोऽस्ति ।। 22 ।।

अङ्गीकुरुष्वात इमं प्रसादा-
न्मत्वात्र सीते ! खलु मत्प्रसादम् ।
नात्रान्यथा ते मतिरस्तु भद्रे !
वचो मम त्वं परिपालयस्व ।। 23 ।।

प्रभो! तवाज्ञां शिरसा वहामि
सदा तवादेशवशंवदाऽहम् ।
बुद्धेर्भ्रमो नैव ममात्र कश्चि-
'दाज्ञा प्रभूणां ह्यविचारणीया' ।। 24 ।।

अङ्गीकरोम्येव तवाज्ञयाऽहं
पतिं पुनर्देवसभेऽद्य शम्भो ! ।
इत्येवमुक्त्वा प्रणनाम सीता
प्रभुं महेशं जगतामधीशम् ।। 25 ।।

रामोऽपि भक्त्या प्रणनाम शम्भुं
विदेहजासङ्गमसम्प्रहृष्टः ।

सच है, प्रसन्नता भी उसकी भयकारी है
जिसकी जग में है चित्तवृत्ति स्थिरा नहीं ।
इसलिए, यही संकल्प सुदृढ़ है मेरा भी
इनके गृह में मेरा निवास हो सके नहीं ॥ २१ ॥

मिथिलेश सुता का दृढ़ निश्चय देख पुनः
श्री महादेव ने उनसे था इस भाँति कहा ।
' हे शुभे ! न ऐसा दृढ़ निश्चय तुम करो क्योंकि
पति ही नारी के लिए ईश्वर गया कहा ॥ २२ ॥

इसलिए, करो स्वीकार राम को हर्ष सहित
हे सीते ! इससे होगा मुझको हर्ष सहज ।
हे भद्रे ! सोचो नहीं अन्यथा कुछ विचार
मेरे वचनों का पालन कर लो देवि ! सहज' ॥ २३ ॥

'हे प्रभो ! आपकी आज्ञा मुझको शिरोधार्य
मैं करती रही आपकी आज्ञा का पालन ।
मेरे मन में है नहीं तनिक भी संभ्रम अब
प्रभुओं की आज्ञा मध्य, भला, कैसा चिन्तन ॥ २४ ॥

स्वीकार कर रही मैं आपकी आज्ञा से
पति को फिर से इस देव सभा के मध्य प्रभो !
ऐसा कहकर था किया प्रणाम जानकी ने
तीनों लोकों के स्वामी महा महेश्वर को ॥ २५ ॥

श्री रामभद्र ने भी शम्भु को प्रणाम किया
वैदेही के संगम से उन्हें आनंद हुआ ।

विसर्जितस्तेन सुरैश्च तुष्टैः
पुरीमयोध्यां प्रययौ ससीतः ।।26।।

सम्प्राप्य तां चापि परं प्रतीतः
सोऽयापयत्स्वं समयं ससीतः ।
तस्मिन्प्रतीते सकलास्तदीयाः
प्रजा ननन्दुर्जहसुर्जगुश्च ।।27।।

(स्वागतावृत्तम्)

जीवनामृतरसाप्लुतिपुष्टो
भार्यया सह परं परितुष्टः ।
राघवो रसमयं सहसीतो
ऽयापयत्स्वसमयं ह्यविगीतः ।।28।।

कीर्तिरास्त वितताऽस्य जगत्या-
मिन्दुकान्तिधवला न च मत्याम् ।
विभ्रमो जनिमलब्ध कदाचि-
च्छुद्धबुद्धिरसकावचकासीत् ।।29।।

एवमेव निजमायुष एष
शेषमास्त गमयन्परितुष्टः ।
कल्पपादप इवार्थिजनस्य
दाववह्निरिव चारिजनस्य ।।30।।

साथ ही तुष्ट देवों से लेकर विदा राम ने
सीता के साथ अयोध्या हित प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

आकर शीघ्र परम आनन्दित हुए राम
सीता के साथ बिताया सुख से समय वहाँ।
उनके प्रसन्न होने पर साकेत-प्रजा
उस समय सभी आनंदमग्न हो उठे वहाँ ॥ २७ ॥

जीवन-अमृत रस से सुपुष्ट
पत्नी के संग संतुष्ट हुए।
राम ने बिताया सरस समय
निन्दा के पात्र न वे कभी हुए ॥ २८ ॥

यश उनका फैला धरती पर
ज्यों धवलकान्ति चन्द्र की सहज।
विभ्रम मन में न कदाचित् था
शुद्धता प्रकाशित हुई सहज ॥ २९ ॥

इस भाँति बितायी शेष आयु
जीवन में थे सन्तुष्ट वहाँ।
इच्छुक के लिए कल्पतरु-से
शत्रु के लिए दावाग्नि वहाँ ॥ ३० ॥

(प्रहर्षिणीवृत्तम्)

आजह्रे प्रयतपरिग्रहद्वितीयः
काकुत्स्थो विविधमखान् स दक्षिणाढ्यान् ।
आराध्य प्रकृतिजनान्निजांश्च कामं
लोकेऽस्मिन्विमलतमामवाप कीर्तिम् ।। 31 ।।

इति श्रीसत्यव्रतशास्त्रिणः कृतिषु
श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यं समाप्तिमगात् ।
शुभं भूयादध्यापकानामध्यायकानां च ।।

सीता के साथ उन्होंने किये यज्ञ अनेक
विप्रों को दक्षिणा देते रहे राम ।
किया प्रजा का अनुरंजन भरपूर
लोक में विमल यश व्याप्त हुआ उनका महान् ॥ ३१ ॥

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य पूर्ण हुआ ॥

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्—समालोचकों की दृष्टि में

Śrīrāmakīrtimahākāvyam : How the Reviewers/Critics see it

थाइरामकथामाश्रित्य प्रणीतमिदमभिनवं संस्कृतमहाकाव्यम् ।...इदं स्वर्णसुगन्धसंयोगवत् स्वीयं किमप्यवर्णनीयमहत्त्वं धारयति ।

काव्येऽस्मिन् छन्दःप्रयोगः, महाकाव्यगतगुणसन्निवेशः, रचनाप्रौढता, रसपरिपाकादयः सर्वे गुणाः पूर्णतां प्रापुः ।

विशालस्यास्य महाकाव्यस्य यावती अपि प्रशंसा क्रियेत सा स्वल्पा एव । रसिकैः स्वयमस्यास्वादः ग्राह्यः । भारतस्य प्रत्येकपुस्तकालयेषु संस्कृतज्ञानां पार्श्वे चास्य स्थितिरावश्यकी ।

—दिव्यज्योतिः, शिमला, वर्षम् ३७,
अङ्कः ७, अप्रैल, १९९२

सर्वङ्कषं च सौरस्यं स्वादिमोद्दामसौभगम् ।
बिभ्रदेतन्महाकाव्यं स्ताव्यं केन न धीमता ॥
पदे पदेऽत्र पद्येषु पदमैत्री परिष्कृता ।
पौष्पी मालेव सौभाग्यं तनुते कौतुकावहम् ॥
प्रातिभस्य गुणस्यास्य गमकं यमकं कवेः ।
रचनाचातुरीं प्राहाऽऽनन्त्यं वा शब्दवारिधेः ॥
निरवद्यं समं हृद्यं पद्यमत्र निगद्यते ।
मधुदूतैरनुस्यूतं साकूतैश्च विशेषणैः ॥

—विश्वसंस्कृतम्, होशियारपुर, वर्षम् २९, अङ्कः २, जून, १९९२

अस्य महाकाव्यस्य गुणा यावद् वर्ण्यन्ते तावदल्पमेव। थाइदेशरामायणं संस्कृते निबद्धं चिरस्थायि स्यात् विश्वस्मिन्नपि च विश्वे तस्य भूयान् प्रचारः स्यादित्यस्माद्धेतोः कृतज्ञा वयं कविवर्याणां सकलजगते सुलभीकृता हि तैः थाइरामकथा। न केवलमेतन्महाकाव्यं कवियशोऽपि तु भारतयश एव। एतादृशैः कविभिरेव गर्वोन्नतं भारतमातुः शीर्षम्।

—स्वरमङ्गला संयुक्ताङ्क
वर्ष १६, सितम्बर-दिसम्बर-१९९१ पृष्ठ १८१-१८५

महाकाव्यस्यास्य सर्गबद्धता विद्यत एव। नायकश्चातिधीरोदात्तः। यथावसरं जन्म-विवाह-युद्ध-अवतार-यज्ञ-स्वयंवराभिषेकादीनां वर्णनमप्यस्त्येव। तत्रापि विभिन्नानि वर्णनानि, अनेके रसाः, विविधा अलङ्कारा:, नैकविधानि वृत्तानि। प्रसादो गुणो, ललितं मनोहारि च भाषावैभवं थाइलैण्डदेशीयसाहित्यसंस्कृत्योश्च यथासम्भवः परिचयः, तत्रत्या कलाशैली चेत्यादिकमखिलमेवाधुनिक-महाकाव्योपयोगिसम्भारजातं जागर्ति।

नूनमनेन महाकाव्यप्रकाशनेन सांस्कृते जगति अभूतपूर्वयोगः · प्रदत्तः पाश्चात्यपौरस्त्यविद्वद्भ्य इति...द्रढीयान् विश्वासः।

—पारिजातम्, कानपुर, वर्षम् १०, अङ्कः ११, जून, १९९२

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यगुम्फने एतेषां (डा० सत्यव्रतशास्त्रिणाम्) गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवा काव्यप्रतिभा तथैव समुन्मेषं लब्धवती यथा लोकहिताय परमकारुणिकस्यादिकवेर्महर्षिवाल्मीकेः रामायणप्रणयने सहसोत्थिताऽऽसीत्। असन्दिग्धमिदं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यं नामाग्नेयैशियारामायणानां संस्कृतेनोपन्यासे प्रथमः प्रयत्नः।

—नवप्रभातम्, कानपुर, वर्षम् २, अङ्कः ४७२, ३.१०.१९९२

अस्मिन् महाकाव्ये यत्रैकतः सहृदयहारिणी सुललितकाव्यशैली तत्रैव प्रादुःष्यात्, अभिप्रयासू, सम्पातयां भूमितले बभूव इत्यादयः प्रयोगा अपि विदग्धमनोरञ्जका वर्तन्ते।

उपमोत्प्रेक्षानुप्रासादिभिरलङ्कारैः श्रृङ्गारवीरकरुणादिभिश्च रसैर्विविधैश्च-च्छन्दोभिः काव्यमिदं सर्वथा रसमयतां रमणीयतां चावहति। अत्र प्रयुक्तोपमासु वास्तविकघटनाश्चक्षुषोरग्रे नरीनृत्यन्त्य इव प्रतीयन्ते।

—भारतोदयः, ज्वालापुर, हरिद्वार,
वर्षम् ८२-८३, अङ्कौ १२, १३, जून-सितम्बर, १९९२

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यं श्रीरामायणस्यैव कोऽपि नवावतारो, विश्वविश्रुतरामकथायाः किमप्यभिनवं संस्करणं...थाइदेशगताचारपरम्परा-संस्कृतिधर्म-वाङ्मयानां विशदं प्रतिबिम्बनं, किञ्च, महाकवीनां प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिवर्याणामपूर्वप्रतिभावैदग्ध्यमण्डितं पुण्यं सारस्वतानुष्ठानमस्ति ।

.....एवं विचित्राभिः कथाभिर्महाकाव्यमिदं सहृदयहृदयमुल्लासयति । प्रसन्नगम्भीरा कवेः शैली, सहजोऽलङ्कारप्रयोगश्च काव्यस्य मनोहरत्वमुद्घोषयन्ति ।...कवेर्व्याकरणशास्त्रमर्मज्ञत्वं तदीयाः शाब्दिकप्रयोगा व्यञ्जयन्ति । काव्ये यत्र तत्र प्रदर्शिता टिप्पणी वाचकानां सहायिका भवति । काव्यस्यास्य काचिल्लघुव्याख्या यदि कविनैव कृत्वा योज्यते चेदाङ्ग्लानभिज्ञानां संस्कृतज्ञानां काव्याध्ययने सौकर्यमधिकं स्यात् ।

—भारतमुद्रा, पुरनाट्टुकरा (केरल प्रदेशः),

सञ्चिका १८, सम्पुटः ६, मार्च-जून, १९९२

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने रामकियन में प्रस्तुत रामकथा को स्वतन्त्र संस्कृत महाकाव्य का रूप देकर, न केवल राम-भक्तों और संस्कृत जगत् का महान् उपकार किया है, अपितु थाईदेश और भारत के बीच अदृश्य सांस्कृतिक सेतु का पुनर्निर्माण करके सांस्कृतिक राजदूत का भी उत्कर्ष प्राप्त किया है ।

कुल मिलाकर एक विदेशी रामकथा को पहिली बार आदिकवि की भाषा में 'प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती' का प्रयोग करते हुए लाने का यह उत्कृष्ट प्रयास है । शब्दार्थ-दर्शन का 'साक्षात्कृतधर्मा' कवि ही ऐसे दुर्गम पथ पर प्रवृत्त हो सकता है ।

कवि ने कुछ छन्दों का प्रयोग करते हुए विशेष रूप से पद-लालित्य का निवेश किया है, जिससे संस्कृत के उत्कृष्ट 'द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः' की कोटि प्राप्त करने की क्षमता दिखाई है ।

—कादम्बिनी, नई दिल्ली, अप्रैल, १९९२

It is a work no student of Sanskrit literature and Indian culture would afford to miss.

—The Sanskrit Academy, Osmania University, Hyderabad, Vol. XIII, 1991.

Dr. Satya Vrat Shastri has presented the Thai version in the most beautiful way in simple, charming and elegant style. The images flow, as it were, from his pen without effort- *apṛthakyatnanirvāhyāḥ*. The artificiality normally associated with ornate poetry in Sanskrit is nowhere seen here.

The poet has successfully delineated different sentiments like Karuṇa, Śṛṅgāra and Vīra.....The close association of the poet with the classics has helped him to incorporate similar ideas in appropriate contexts and to give them classical seriousness.

—*Pūrṇatrayī*, Ravi Varma Samskrit Granthavali Journal, Tripunithura (Kerala), Vol. XIII, No. 1, Jan.-July,1991

The *Śrīrāmakīrtimahākāvyam* serves its purpose more than the present reviewer expected. It is a beautiful work of literary art. It is a valuable contribution to modern Sanskrit poetry in the Mahākāvya style of Sanskrit literary tradition. It is a pioneering work which attempts to bring the growth, the colourful blooms and savoury fruits of the *Rāmāyaṇa* from the Śyāmadeśa back home to India in the language of the original. The work of the illustrious author Satya Vrat Shastri while being a beautiful *object d' art* in itself, is also a contribution to the academic pursuit of the expansion of the story of Rāma. Last, but not the least, it should serve as a serene, subtle and sober element inwardly inherent in man to bring in closer cultural ties between Thailand and India.

—*The Journal of the Siam Society*, Bangkok, Vol. 79, Part I, 1991.

This is the first attempt of its kind to present a Sanskrit version, in the traditional elegant Mahākāvya style of the Thai Ramakien (aptly translated Rāmakīrti—glory of Rāma).

It would be quite interesting to undertake a project like "Innovations in Rāmakathā as found in Thai and other South East Asian traditions". And this fascinating and superb Sanskrit presentation by Satya Vrat would certainly go a long way towards facilitating such studies and providing thereby effective ties of cordial understanding and goodwill as well as cultural and educational closeness among most of the great countries of Asian Continent.

—*The Hindustan Times*, New Delhi, October 19, 1991.

In the galaxy of modern Sanskrit poets Dr. Satya Vrat's name is undoubtedly the best. In his story matter he has not obviously followed Vālmīki, nor even Kālidāsa, but has wisely chosen the Rāma story as it is current in Thailand. His story is much more diversified and extensive, and is blended with Dr. Satya Vrat's artistic imagination. It is indeed true to say that there is hardly anything rugged or unpolished.

The poem is written with an excellent command of Sanskrit rarely found in modern Sanskrit writers, a genius which can vie with the master minds of ancient classics.

—*The Journal of the Asiatic Society*, Calcutta,
Vol. XXXV, NO. 3, March, 1994.

श्यामदेशीयकथा पुराणी रामायणस्यादधती प्रचारम् ।

सा काव्यसृष्टिप्रतिभावता श्रीसत्यव्रतेन प्रथिताऽऽर्षभावैः ।।

काव्यान्यनेकानि कृतानि यानि प्रभावपूर्णानि जयन्ति लोके।
सत्यव्रतख्यातिमनन्तकालं श्रीरामकीर्तिः सुतरां तनोति ।।
छन्दोविशेषैरनवद्यपद्यैर्भावानुरूपैश्च पदप्रयोगैः।
मर्मस्पृशा युक्तरसेन नित्यं चित्तं हरत्येतदतीव काव्यम् ।।

—उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषिः', पटना

भवत्प्रणीतं रामकीर्तिमहाकाव्यं मया समुत्सुकेन मनसा सप्ताहेनैव पठितम्। रामायणोपजीव्यमेतत् सर्वथा स्वोपज्ञकल्पमिव बुद्ध-योद्-फेत्याख्यस्य विद्वन्महामणेः प्रतिभाति। हिमालयप्रभवा भागीरथी कनखलादारभ्य सुन्दरवनं यावद् यथा प्रदेशात् प्रदेशान्तरं गच्छन्ती नानारूपशोभातिशयं नामभेदांश्च दधती लोकांश्चानन्दशुद्धिरसैस्तर्पयन्ती राजते तथैव रामकथाऽपि। थाइभूमेरुत्खनिता भवत्प्रतिभानलेन च सन्तापिता श्यामिकां परिमार्ज्य च संशोधिता हेमप्रतिमेवैषा रामकथा भवन्महाकाव्येऽतिजातरूपं दीव्यमाना सहृदयान् विदुषो रसेनाप्लावयति।

—प्रभुदयालु अग्निहोत्री, भोपाल

It is a monumental work.

—Biswanarayan Shastri, Guwahati

Excellently conceived, written, produced and printed, it will be a proud possession in the library of any Sanskritist.

....

Any version of the *Rāmāyaṇa* is worth reading and possessing. I had a quick glance through several cantos and one can see the influence of the muse of Kālidāsa underlying the diction. I am sure the work will win the recognition which it so richly deserves.

—N.P. Unni, Trivandrum

What a marvellous work! A Mahākāvya in beautiful diction: It is a fortune of both India and Thailand.

ग्रन्थोऽयं रसबन्धुरो हि मधुरो वस्तु प्रशस्तं सतां
हृद्यं चाप्यनवद्यमस्य च कवेरुद्दामवाग्वैभवम् ।
सन्तोषं कलयत्ययं सुमनसां निर्मत्सराणां सदा
सन्तुष्टे सति राघवे किमथवा देवे परप्रीतिभिः ॥

—M.P.L. Sastry, Bangalore

It is a work not only of great erudition but also a work for which you have dedicated your entire spirit.

—G. C. Nayak, Puri (Orissa)

Srīrāmakīrtimahākāvyam occupies a pride of place in the India House Library.

—L.M. Singhvi, London

मूल लेखक—डॉ० सत्यव्रत शास्त्री

२९ सितम्बर, १९३० को जन्मे डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पितृश्री चारुदेव शास्त्री की देखरेख में हुई। बी० ए० आनर्स संस्कृत में कीर्तिमान इन्होंने स्थापित किया तथा संस्कृत में एम० ए० में प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान प्राप्त किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से पी-एच० डी० की। दिल्ली विश्वविद्यालय के अपने चालीस वर्षों के अध्यापन काल में संस्कृत विभागाध्यक्ष तथा कलासंकायाध्यक्ष जैसे पदों को सुशोभित किया। पुरी (उड़ीसा) में ये श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। भारत से बाहर तीन महाद्वीपों के पांच विश्वविद्यालयों में अभ्यागत आचार्य के पद पर कार्य किया।

कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के धनी डॉ० सत्यव्रत शास्त्री के मौलिक लेखन में तीन महाकाव्य, तीन खण्डकाव्य, एक प्रबन्ध काव्य तथा एक पत्र काव्य एवं आलोचनात्मक लेखन में "दि रामयण ए लिंग्विस्टिक स्टडी" सदृश पांच शोध ग्रन्थ, एक सौ दस शोध-निबन्ध तथा ५० से भी अधिक प्राक्कथन हैं। अनेकानेक ग्रन्थों की समीक्षा भी इन्होंने की है। सौ से अधिक भाषण भी इन्होंने यूरोप, अमेरिका, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा सुदूर पूर्व में दिये हैं। दो शोध-पत्रिकाओं, इण्डोलोजिकल स्टडीज़ तथा श्रीजगन्नाथ ज्योतिः के ये संस्थापक-सम्पादक भी रहे हैं।

डा० सत्यव्रत शास्त्री ने देश और विदेश में तीस सम्मान अर्जित किये हैं।

भारतीय विद्या के क्षेत्र में डॉ० सत्यव्रत शास्त्री आज एक जाना-पहिचाना नाम है।

अनुवादिका : डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्र

डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्रा का जन्म दिसम्बर १९५३ को उत्तरप्रदेश के हरदोई जिला के खद्दीपुर गढिया ग्राम में हुआ। इन्होंने तीन विषयों से एम.ए. तथा दो विषयों से आचार्य किया तथा पी-एच.डी., डी. लिट., एल्-एल. बी. तथा साहित्यरत्न की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। इन्हें संस्कृत अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू तथा नेपाली आदि भाषाओं का ज्ञान है। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी में इन्होंने बाईस मौलिक कृतियों की रचना की है जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं देवयानी—(हिन्दी महाकाव्य), कीचकवध (हिन्दी नाटक), सुजान (हिन्दी उपन्यास), सुभाषितसुमनोञ्जलिः (संस्कृत काव्य), व्यासशतकम् (संस्कृत शतक काव्य) आम्रपाली (संस्कृत नाटक) जिगीषा (संस्कृत उपन्यास) तथा नियोगी (अंग्रेज़ी दीर्घ कविता)। इन्हें साहित्यसरस्वती, काव्यश्री, विद्यावाचस्पति, साहित्य कला विद्यालङ्कार तथा साहित्यमहोपाध्याय की मानद उपाधियां प्राप्त हैं। ये राजभाषा विभाग, बिहार सरकार; उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ; उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ तथा इण्टरनैशनल तमिल सोसाइटी से पुरस्कृत भी हुई हैं।

सम्प्रति ये बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना के शोध विभाग में कार्यरत हैं।